प्रकाशक
साहित्य भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद

निवेदन

'मध्यकालीन धर्म-साधना' यद्यपि भिन्न-भिन्न अवसर पर लिखे गए निबंधों का संग्रह ही है तथापि प्रयत्न किया गया है कि ये लेख परस्पर-विच्छिन्न और असंबद्ध न रहें और पाठकों को मध्यकालीन धर्म-साधनाओं का संक्षिप्त और धारावाहिक परिचय प्राप्त हो जाय। इसीलिये कई लेखों में परिवर्तन कर दिया गया है और कई को एकदम नये सिर से लिखा गया है। दो प्रकार के साहित्य से इन धर्म-साधनाओं का परिचय संग्रह किया गया है—(१) विभिन्न संप्रदाय के साधना-विषयक और सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ और (२) साधारण काव्य-साहित्य। इन दो मूलों के उपयोग के कारण इस पुस्तक में आलोचित अधिकांश धर्म-साधनाएँ शास्त्रीय रूप में ही आई हैं। जिन संप्रदायों के कोई धर्म-ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं या जो साधारण काव्य साहित्य में नहीं आ सकी हैं वे छूट गई हैं। लोकधर्म की चर्चा इस पुस्तक में यत्रतत्र आ अवश्य गई है परन्तु वह इस पुस्तक का प्रधान प्रतिपाद्य नहीं है।

मेरा विश्वास है कि जनपदों में प्रचलित लोकधर्म की अनेक पूजा-पद्धतियाँ, देवता-मंडलियाँ और धार्मिक विश्वासों की परंपरा दीर्घ-काल से चलती आ रही हैं। शास्त्रीय धर्म-साधना के साहित्य से इनका घनिष्ठ संबंध होना चाहिए। कहीं-कहीं पुस्तक में इस प्रकार के संकेत दिए गए हैं परन्तु यह विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसके लिये अधिक गंभीरतापूर्वक विचार करके स्वतंत्र पुस्तक लिखने की आवश्यकता है।

हमारे देश की धर्म-साधना का इतिहास बहुत विपुल है। विभिन्न युग की सामाजिक स्थितियों से भी इसका संबंध भी है। भिन्न-भिन्न समयों में बाहर से आने वाली मानव-मंडलियों के संपर्क से इसमें नये-नये उपादान भी मिलते रहे हैं। धर्म-साधना की चर्चा करते समय इन सब

बातों की चर्चा आवश्यक हो जाती है। इस पुस्तक में बहुत थोड़ी बातों की चर्चा हो सकी है। फिर भी प्रयत्न किया गया है कि उत्तर भारत की प्रधान-प्रधान धर्म-साधनाएँ यथासंभव विवेचित हो जायँ और उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि का भी सामान्य परिचय मिल जाय।

विषय की विशालता और गहनता के विषय में दो राय नहीं हो सकती और इस छोटी सी पुस्तक में उनका बहुत सामान्य परिचय दिया जा सकता है, यह भी असंदिग्ध ही है। मुझे कुछ और अवकाश मिलता तो इसका किञ्चित् मार्जन कर सकता, परन्तु अभी तो जितना बन पड़ा उतना ही पाठकों की सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ। सहृदय पाठक इसके दोषों और त्रुटियों के लिये क्षमा करेंगे, यह भरोसा मेरे मन में है। इसी आशा से इसे प्रकाशित करने का साहस कर रहा हूँ।

काशी
१७—५—५२

(डा०) हजारी प्रसाद द्विवेदी

का नाम	क्रम सं०	जातिका नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
-माझी आदि	१७६	मल्लाह (सा०)	बंगाल-बिहार	७२१६००
	१७७	पाटनी	बंगाल	६३७००
	१७८	तियर	बङ्गाल	२७०९००
	१७९	माली	बङ्गाल	२४६६००
	१८०	केवट	उत्तर भारत	११०८००
	१८१	कहार	उत्तर भारत	१९७०८००
	१८२	भीमर	उत्तर मध्य भारत	२९१२००
	१८३	झीनवर	पञ्जाब	४७७७००
	१८४	माछी	पञ्जाब	२८८६००
	१८५	मोहानो	सिंध	११३१००
	१८६	भोई	दक्षिण, पश्चिम	१६९८००
	१८७	बोया	तिलङ्गाना	५३०४००
	१८८	पल्ले	तिलङ्गाना	१५००००
	१८९	बेस्ता	तिलङ्गाना	२३०४००
	१९०	[illegible]	तिलंगाना	७६५००
			[illegible]	३८२००

विषय-सूची

श्रेणी का नाम	क्रम सं०	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
चौर्य-जीवी	३८१	बागरिया	मध्य भारत	३०६००
	३८२	बेदिया	उत्तर भारत	५७५००
	३८३	मंसिया	पंजाब	३४७००
	३८४	हबूरा	उत्तर भारत	४३००
	३८५	भामतिया-उचली	उत्तर भारत	६१००
शिकारी आदि	३८६	भवरिया	उत्तर भारत	३०३००
	३८७	मोघिया		
	३८८	अहेरिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	३५४००
	३८९	बहेलिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	५३६००
	३९०	महतम	पंजाब, युक्तप्रान्त	८२९००
	३९१	महरिया	मध्य भारत	१३६४००
	३९२	बावरी	मध्य भारत	११४०००
	३९३	पारधी	दाक्षिणात्य	३२०००
	३९४	वेडन	तामिल	२५५००
	३९५	वलय्यन्	तामिल	३८३०००
	३९६	केद्दवन	तामिल	७४९००
	३९७	कुरिच्चन	मालाबार	९६००
कटिबंध	३९८	कोल	मध्य प्रान्त	२९९०००
झाड़ी जातियाँ	३९९	हो	बङ्गाल	३८५१००
	४००	मुंडा	बंगाल, बिहार	४६६७००
	४०१	भूमिज	बंगाल	३७०२००
	४०२	भुंइया	बंगाल मध्य०	७८९१००
	४०३	खरवार	बंगाल	१३९६००
	४०४	बेगा	मध्य प्रान्त	३३९००
	४०५	चेरू	बंगाल	३०२००
	४०६	खरिया	बंगाल	

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जातिका नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	४३३	गामता	पश्चिम	४९३००
	४३४	पटेलिया	पश्चिम	६१०००
	४३५	नाइकडा	पश्चिम	६०२००
	४३६	नायक	पश्चिम	२५१००
	४३७	छोद्रा	पश्चिम	५८२००
सह्याद्रि की जातियां	४३८	काट्करी	सह्याद्रि	६३०००
	४३९	वार्ली	सह्याद्रि	१५२३००
	४४०	घाट टाकुर	सह्याद्रि	१२२३००
नीलगिरि की जातियां	४४१	कुरुमान	नीलगिरि	१०६००
	४४२	ईसल	नीलगिरि	८६१००
	४४३	तोड	नीलगिरि	८००
	४४४	कोटा	नीलगिरि	१३००
	४४५	कानिकन	नीलगिरि	४१००
	४४६	मलय्यन	नीलगिरि	११२००
	४४७	यानादि	नीलगिरि	१०३९००
	४४८	चेञ्चु	नीलगिरि	८३००
आसामकी पहाड़ी जातियां	४४९ ४५०	बादो कचारी }	आसाम	२४२९००
	४५१	गारो	आसाम	१६२२००
	४५२	लालंग	आसाम	३५५००
	४५३	रामा	आसाम	६७३००
	४५४	हाजंग	आसाम	८८२००
	४५५	टिपरा-म्रंग	आसाम	१११३००
	४५६	चूतिया	आसाम	८५८००
	४५७	मीरी	आसाम	४६७००
	४५८	आबोर	आसाम	३२०

श्रेणीका नाम	क्रम सं०	जातिका नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
	४८५	लेप्चा-रोंग	सिकिम	१८०००
	४८६	मुरमी	नेपाल	३३६००
	४८७	नेवार	नेपाल	११५००
	४८८	खस	नेपाल	१५६००
	४८९	गूरुंग	नेपाल	२३६००
	४९०	मंगर	नेपाल	१६६००
	४९१	सुनुवार	नेपाल	६६००
	४९२	गोर्खा (साधा०)	नेपाल	१८४००

१. मध्ययुग या मध्यकाल

'मध्ययुग' या 'मध्यकाल' शब्द भारतीय भाषाओं में नया ही है। इस देश के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के किसी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। बहुत प्राचीनकाल से भारतवर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नाम के चार युगों की चर्चा मिलती है। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों में भी इन शब्दों का प्रयोग मिल जाता है। धार्मिक मनोवृत्ति की प्रबलता या क्षीणता ही इस प्रकार के युग विभाजन के विश्वास का आधार है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कृत या सत्ययुग में धर्म की पूर्णस्थिति थी। त्रेता में तीन चौथाई रह गई और द्वापर में आधी। कलिकाल में धर्म का प्रभाव और भी क्षीण हुआ और वह एक ही चरण पर खड़ा रह गया। अनेक विद्वानों ने महाभारत और पुराणों के अध्ययन से यह निर्णय करने का प्रयत्न किया है कि कलिकाल का आरंभ किस समय से हुआ था। हिंदू परम्परा के अनुसार कलिकाल राजा परीक्षित के राज्यकाल में आरंभ हुआ था। यद्यपि हिंदू परम्परा इस काल को पांच हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व से आरंभ होना बताती आ रही है तथापि नई दृष्टि के पण्डितों ने आर्य राजाओं की वंशावली के आधार पर सन् ईस्वी के एक सहस्राब्दक पूर्व से इस काल का आरंभ माना है। साधारणतः इस काल के बाद राजाओं का उल्लेख पुराणों में भविष्यकालिक क्रिया के प्रयोग द्वारा किया गया है। यह माना जाता है कि कलियुग में मनुष्यों की प्रवृत्ति पाप कर्मों की ओर हो जाती है और उनका आयुबल क्षीण हो जाता है और ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों मनुष्यों की पापाभिमुख प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। यद्यपि कलिकाल के दोष अनेक हैं फिर भी उसमें एक बड़ा भारी गुण भी है। अन्यान्य युगों में मानस पाप का भी फल मिलता है किन्तु कलि-

युग में मानस पाप का फल तो मिलता ही नहीं ऊपर से मानस पुण्य का फल प्रचुर-मात्रा में मिलता है। अनजान में भी यदि भगवान का नाम ले लिया जाय तो मुक्ति हो जाती है। अजामिल, गणिका आदि इस प्रकार तर गए हैं। भाव से हो, कुभाव से हो, क्रोध से हो, घृणा से हो, उत्साह से हो, आलस्य से हो जैसे-तैसे भी भगवान का नाम ले लेने से इस युग में मंगल ही होता है।

लेकिन इस विश्वास के अनुसार कलियुग अंतिम युग है। आजकल के शिक्षित लोग जब मध्ययुग या मध्यकाल शब्द का प्रयोग करते हैं तो उनके कहने का अभिप्राय भारतीय परम्परा के युग विभाग के अनुसार बीच में पड़ने वाले द्वापर या त्रेता युग नहीं होता। वस्तुतः यह शब्द अंग्रेजी के 'मिडल एजेज' के अनुकरण पर बना लिया गया है। यूरोपीय इतिहास में रोमन साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर आधुनिक वैज्ञानिक अभ्युदय के पूर्व तक के काल को मध्ययुग या मध्यकाल कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमीय विचारकों ने साधारणतः सन् ४७६ ईस्वी से लेकर १५५३ ईस्वी तक के काल को मध्ययुग कहा है। हाल की जानकारियों से यह मालूम हुआ है कि इस प्रकार के नामकरण का कोई विशेष उल्लेख योग्य कारण नहीं था। असल बात यह है कि मध्ययुग शब्द का प्रयोग काल के अर्थ में उतना नहीं होता जितना एक खास प्रकार की पतनोन्मुख और जबदी हुई मनोवृत्ति के अर्थ में होता है। मध्ययुग का मनुष्य धीरे-धीरे विशाल और असीम ज्ञान के प्रति जिज्ञासा का भाव छोड़ता जाता है तथा धार्मिक आचारों और स्वतः प्रमाण माने जाने वाले आप्त वाक्यों का अनुयायी होता जाता है। साधारणतः इन्हींकी बाल की खाल निकालने वाली व्याख्याओं पर अपनी समस्त बुद्धि-सम्पत्ति खर्च कर देता है। यूरोपीय इतिहास के इसी युग में यह शास्त्रार्थ प्रबल रूप धारण करता है कि सूई की नोक पर कितने फरिश्ते खड़े हो सकते हैं।

इस काल की साधना का वैशिष्ट्य

प्रत्येक युग के साधक भगवान् के दो रूपों का अनुभव करते रहे हैं। एक तो उनका निर्गुण और निर्विशेष रूप है जो ज्ञान का विषय है। मनुष्य उसको

ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि इस क्रिया के जितने भी साधन हैं उनके पहुँच की सीमा निश्चित है। जो समस्त सीमाओं से परे है वह केवल अनुमान और तर्क का विषय हो सकता है। यद्यपि इसमें संदेह ही है कि बौद्धिक विवेचना के द्वारा उसका कितना अंश सचमुच ही स्पष्ट होता है। प्रत्येक युग के और प्रत्येक देश के साधक भगवान् के इस निस्सीम और अचिंत्य-गुण-प्रकाश रूप की बात जानता है। कैसे जानता है, यह बताना बड़ा कठिन है क्योंकि जो असीम और अचिंत्य है उसको अनुभव करने के लिए कुछ इसी प्रकार के साधन की आवश्यकता है। मनुष्य-जीवात्मा में कुछ इसी प्रकार के धर्म विद्यमान हैं। वस्तुतः जब भक्त भगवान् के असीम-अचिंत्य-गुण-प्रकाश रूप की बात करता है तो वह ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव की बात नहीं करता, मन द्वारा चिंतित वस्तु की बात नहीं कहता और बुद्धि द्वारा विवेचित पदार्थ की बात नहीं करता। वह इन सब से भिन्न और सबसे अलग किसी ऐसे तत्त्व की बात कहता है जिसे उसकी अंतरात्मा अनुभव करती है। वह सत्य है क्योंकि उसे भक्त सचमुच ही अनुभव करता है लेकिन वह फिर भी ग्राह्य नहीं है। न तो वह मन-बुद्धि द्वारा ग्रहणीय है और न वाणी द्वारा प्रकाश्य। जब कभी वह भक्त के हृदय में प्रकट होता है तभी भक्त के हृदय की समस्त सीमाओं में बँधकर सगुण निर्विशेष रूप में ही व्यक्त होता है। यही भक्त का भाव-गृहीत रूप है।

इस प्रकार भगवान् के दो रूप हुए। एक तो वह जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते, व्याख्या नहीं कर सकते, विवेचना नहीं कर सकते। दूसरा वह जो भक्त के चित्त में भाव रूप से प्रकट होता है और उसके समस्त मनोविकारों के बंधन में बँधा रहता है। आधुनिक लेखक इस मनोवृत्ति के आधार पर ही इस युग-सीमा का निर्धारण करना चाहते हैं। जब वह कहते हैं कि पांचवीं से सोलहवीं शताब्दी तक के काल को मध्ययुग कहने का कोई विशेष कारण नहीं है तो असल में वे यह बताना चाहते हैं कि इस काल में सर्वत्र यह पतनोन्मुख और जबदी हुई प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। फिर भी मध्ययुग का सीधा अर्थ काल ही हो सकता है, और इसीलिए पांचवीं से सोलहवीं तक के समय को मध्ययुग कहना बहुत कुछ रूढ़ हो गया है। भारतीय इतिहास के लेखकों में

से किसी किसी ने इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है और किसी-किसी ने मनोवृत्तिपरक अर्थ लेकर इस काल को अठारहवीं शताब्दी के अंत तक घसीटा है क्योंकि भारतवर्ष में आधुनिक मनोवृत्ति का जन्म अठारहवीं शताब्दी के बाद ही होता है। इस अर्थ में प्रयोग करने वाले विद्वानों की कठिनाई यह है कि जिस प्रकार आधुनिक मनोवृत्ति के जन्म का निश्चित समय मालूम है उसी प्रकार मध्ययुगीन मनोवृत्ति के जन्म का भारतीय काल निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता।

इसमें सन्देह नहीं कि यूरोप के देशों की तरह इस देश में भी मध्यकाल में एक जकड़ी हुई मनोवृत्ति का राज्य रहा है। काव्य, नाटक, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत, मूर्ति आदि जिस क्षेत्र में भी दृष्टि जाती है सर्वत्र एक प्रकार की अधोगति का ही आभास मिलता है। इस सार्वत्रिक अधोगति का कारण इस देश की राजनीतिक स्थिति थी। कारण जो भी हो, मध्ययुग ह्रास का ही युग है। इसमें केवल एक बात में भारतवर्ष पीछे नहीं हटा। वह है भगवद्भक्ति का क्षेत्र। उत्तर-मध्य काल में बहुत बड़े-बड़े भक्त इस देश के हर हिस्से में पैदा हुए हैं। इनमें कितने ही बहुत उच्चकोटि के विचारक तत्त्वज्ञानी थे। परन्तु अधिकांश निरक्षर साधकों की ही प्रधानता रही। भारतवर्ष के इन भक्तों ने निश्चित रूप से दिखा दिया है कि साक्षर होने से ही कोई भगवद्भक्ति का अधिकारी नहीं हो जाता और निरक्षर होने मात्र से कोई उस महारस से वंचित भी नहीं हो जाता। भक्त की मनोवृत्ति के अनुसार कभी वह सखा रूप में, कभी प्रिय रूप में, कभी स्वामी रूप में और कभी अन्यान्य रूपों में प्रकट होता है।

मध्ययुग के भक्तों ने इस भाव-गृहीत रूप का बड़ा विशद वर्णन किया है। जो भगवान अचिन्त्य है उसका कोई नाम रूप नहीं होता। ज्ञानी लोग उसको आत्मा या ब्रह्म जैसे एक ही शब्द से समझा सकते हैं क्योंकि उनके मत से मनुष्य की जीवात्मा परब्रह्म से अभिन्न है। परन्तु ऐसे परमात्मा का नाम भी क्या और रूप भी क्या। कुछ ऐसे ही भाव को बताने के लिए मौजी कबीर ने कहा था—'उनका नाम कहन को नाहीं दूजा धोखा होय।' नाम रूप की अपेक्षा रखता है। जिस वस्तु का रूप नहीं होता उसका नाम भी नही

होता। परन्तु मध्ययुग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। मध्ययुग की समस्त धर्म साधना को नाम की साधना कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम जप के बारे में किसी को कोई संदेह नहीं। इस अपार भवसागर में एक मात्र नाम ही नौका रूप है। यद्यपि ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां भगवान् का वास न हो और मनुष्य का हृदय भी निस्संदेह उसका आवास है। फिर भी जब तक वह नाम और रूप के सांचे में नहीं ढल जाता अर्थात् सगुण और सविशेष रूप में नहीं प्रकट हो जाता तब तक वह ग्राह्य भी नहीं। इसीलिए भक्तों के नाम-स्मरण का स्पष्ट अर्थ है, भगवान् के भावगृहीत रूप का स्मरण। ब्रह्मसंहिता में कहा है कि यद्यपि भगवान् का गुण और प्रकाश अचिंतनीय है और सबके हृदय में रहता हुआ भी वह सब के अगोचर रहता है—कम लोग ही उसके हृदय स्थित रूप को जान पाते हैं—तथापि संत लोग प्रेमांजन से विच्छुरित भक्ति रूप नयनों से सदैव उसका दर्शन करते रहते हैं अर्थात् जो अरूप होने के कारण दृष्टि का अविषय है उसे प्रेम के अंजन से अनुरंजित करके विशिष्ट बनाकर देखा करते हैं :

> प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन
> सन्तः सदैव हृदयेऽप्यवलोकयन्ति।
>
> यं श्याम सुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं
> गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

भगवान का यह प्रेमांजनच्छुरित रूप भक्त की अपनी विशेषता है। यह उसे सिद्धिवादियों से अलग कर देता है, योग के चमत्कारों को ही सब कुछ मानने वालों से पृथक कर देता है। और शुष्क ज्ञान के कथनी-कथने वालों से भी अलग कर देता है। यह नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन भक्तों की अपनी विशेषता है। यह बात बौद्ध और जैन साधकों में नहीं थी, नाथ और निरंजन मत के साधकों में भी नहीं थी और अन्य किसी शुष्क ज्ञानवादी सम्प्रदाय में भी नहीं थी। जप की महिमा का बखान इस देश में नया नहीं

है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने 'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि', कहकर जप की महिमा बताई है पर साधारणतः जप मंत्र विशेष का हुआ करता था। भगवान् के नाम को ही सबसे बड़ा मंत्र मानना और उसीके जप को समस्त सिद्धियों का मूल मानना इस युग की विशेषता है, और इस विशेषता ने ही भगवान के भावगृहीत रूप को इतना महत्त्व दिया है। भगवान के सगुण उपासना के मूल में यह भावगृहीत रूप ही है, अन्तर केवल इतना ही है कि यह भावगृहीत रूप भगवान् के पूर्व निर्धारित किसी रूप को आश्रय करके होता है। इस प्रकार यद्यपि सूरदास के कृष्ण और हित हरिवंश के भावगृहीत रूप में थोड़ा अंतर हो सकता है, परन्तु है वह एक ही शास्त्र-समर्थित श्रीकृष्ण के मधुर रूप पर आधारित। वस्तुतः निर्गुण कहे जाने वाले रूप में भगवान् की उपासना करने वाला भक्त भी भगवान के इस भावगृहीत गुण-विशिष्ट रूप को ही अपनाता है। फिर भी उसकी विशेषता यह है कि उसका भावगृहीत रूप किसी पूर्व निर्धारित और शास्त्र-समर्थित आकार को आश्रय करके नहीं होता।

मध्ययुग में इस भाव ने अनेक विचित्र रूपों में अपने को प्रकाशित किया है। इसीलिये इस युग का साहित्य भक्ति के रस से अत्यन्त सरस हो गया है। और भगवान् के भावगृहीत रूपों के वैचित्र्य के कारण अनेक रूपों में प्रकट हुआ है। इस सरसता और वैचित्र्य के कारण ही इस युग का साहित्य इतना आकर्षक बना है।

२. धर्म-साधना का साहित्य

यूरोप के इतिहास के जिस काल को मध्ययुग कहा जाता है उसके प्रारंभिक शताब्दकों को भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। यद्यपि यह बात सम्पूर्णरूप से तथ्य के अनुकूल नहीं कही जा सकती तथापि इतना तो सत्य है ही कि भारतीय इतिहास में गुप्त नरपतियों का उत्कर्षकाल बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। सन् ईस्वी के पहिली शताब्दी से मथुरा के कुषाण सम्राटों के शासन संबंधी चिह्नों का मिलना एकाएक बंद हो जाता है। इसके बाद के दो-तीन सौ वर्षों का काल अब तक भारतीय इतिहास का अंधयुग ही कहा जाता रहा है। हाल ही में इस काल के अनेक तथ्यों का पता चला है किन्तु धारावाहिक इतिहास लिखने की सामग्री अब भी पर्याप्त नहीं कही जा सकती। धीरे-धीरे विद्वान अन्वेषक कुछ न कुछ नये तथ्यों का संग्रह करते जा रहे हैं। यह 'अंधरकार युग' शब्द भी यूरोपियन पण्डितों के दिमाग की ही उपज है। यदि राजाओं और राजपुरुषों का नाम ही इतिहास न समझा जाय तो इस काल को 'अंधरकार युग' नहीं कहा जा सकता। धर्म और दर्शन आदि के जो ग्रंथ परवर्त्ती डेढ़ हजार वर्षों के इतिहास को प्रभावित करते रहे हैं उनका बीजारोपण इसी काल में कहीं हुआ था। मनुस्मृति का नवीन रूप संभवतः इसी काल की देन है। सूर्य-सिद्धान्त का पुराना रूप इसी काल का बना होगा। अश्वघोष ने संभवतः इसी काल में अपनी नई काव्यशैली का आरंभ किया और परवर्त्ती नाटकों, प्रकरणों, और अन्यान्य रूपकों को प्रभावित करनेवाला भारतीय नाट्यशास्त्र भी इसी काल में लिखा गया था तथा परवर्त्ती काव्यों को दूर तक प्रभावित करनेवाला वात्स्यायन का कामसूत्र इसी काल में संपादित हुआ था। हम आगे चलकर देखेंगे कि दर्शन और धर्म-साधना के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों और सम्प्रदायों की स्थापना इसी काल में हुई।

इस प्रकार परवर्ती भारतवर्ष को जो रूप प्राप्त हुआ वह अधिकांश में इसी काल की देन है।

सन् ३२० ईस्वी में मगध का प्रसिद्ध पाटलिपुत्र चार सौ वर्षों की गाढ़ निद्रा के बाद एकाएक जाग उठा। इसी वर्ष चन्द्रगुप्त नामधारी एक साधारण राजकुमार, जिसकी शक्ति लिच्छवियों की राजकन्या से विवाह करने के कारण बहुत बढ़ गई थी, अचानक प्रबल पराक्रम के साथ उठ खड़ा हुआ और उत्तर भारत के विदेशियों को उखाड़ फेंकने में समर्थ हो गया। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने और भी प्रचंड विक्रम का परिचय दिया। अनेक मदगर्वित सामंतों और बलदर्पित शासकों का मान-मर्दन करके उसने उत्तर भारत को निष्कंटक सा बना दिया। इसका पुत्र द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य पिता के समान ही प्रतापशाली सिद्ध हुआ। इसका सुव्यवस्थित साम्राज्य पूर्व समुद्र से पश्चिम समुद्र तक फैला हुआ था। इस समय ब्राह्मण धर्म नया तेज और नया यौवन पाकर बड़ा शक्तिशाली हो गया।

वस्तुतः यूरोप के इतिहास में जहाँ से मध्ययुग का आरंभ हुआ था वहाँ भारतीय इतिहास में नवीन उत्साह और नवीन जोश का उदय हुआ। संस्कृत भाषा ने नई शक्ति प्राप्त की और समूचे देश में एक नये ढंग की जातीयता की लहर दौड़ गई। इस काल में राज्यकाल से लेकर साहित्य, धर्म और सामाजिक विधि-व्यवस्था तक में एक विचित्र प्रकार की क्रांति का पता लगता है। पुराने शासक लोग राजकार्य के लिये जिन शब्दों का व्यवहार करते थे उन्हें छोड़ दिया गया, कुषाण नरपतियों ने जिस गांधारशैली की मूर्त्तिकला को बहुत सम्मान दिया था वह एकदम उपेक्षित हो गई। वस्तुतः आज के भारतीय धर्म, समाज, आचार-विचार क्रियाकाण्ड सभी विषयों पर इस युग की अमिट छाप है। इस काल को और चाहे जो कहा जाय, पतनोन्मुखी और जबदी हुई मनोवृत्ति का काल नहीं कहा जा सकता। जो पुराण और स्मृतियां आजकल निस्संदिग्ध रूप में प्रामणिक मानी जाती हैं और उनका संपादन अंतिम रूप में इस काल में हुआ था; जो काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिकाएँ गुप्त काल में रची गईं वे आज भी भारतवर्ष का चित्त मुग्ध कर रही

है। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए वे सैकड़ों वर्ष बाद आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं। इस काल को भारतीय उन्नति के स्तब्ध हो जाने का काल नहीं कहा जा सकता।

लेकिन विक्रम की छठीं शताब्दी के बाद भारतीय धर्मसाधना में एक नई प्रवृत्ति का उदय अवश्य होता है। इस समय से भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में उस नए प्रभाव का प्रमाण मिलने लगता है जिसे संक्षेप में 'तांत्रिक प्रभाव' कह सकते हैं। केवल ब्राह्मण ही नहीं जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी यह प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। बौद्ध-धर्म का अंतिम रूप तो इस देश में तांत्रिक ही रहा। दसवीं शताब्दी के आसपास आते-आते इस देश की धर्म साधना बिलकुल नये रूप में प्रकट होती है। निस्संदेह यहाँ से भारतीय मनीषा के उत्तरोत्तर संकोचन का काल आरंभ होता है। यह अवस्था अठारहवीं शताब्दी के अंत तक चलती रही उसके बाद भारतवर्ष फिर नये ढंग से सोचना आरंभ करता है। सच पूछा जाय तो विक्रम की दसवीं शताब्दी के बाद ही भारतीय इतिहास का वह काल आरंभ होता है जिसे संकोचनशील और स्तब्ध मनोवृत्ति का काल कहा जा सकता है। यह सत्य है कि मध्यकाल में कोई भी ऐसी प्रवृत्ति कठिनाई से मिलेगी जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में पूर्ववर्त्ती काल में न हो गया हो। परन्तु धर्म-साधना का इतिहास जीवन्त वस्तु है और जब हम किसी प्रवृत्ति को नई कहते हैं तो हमरा मतलब सिर्फ इतना ही होता है कि यह प्रवृत्ति कुछ विशेष ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से अत्यन्त प्रबल होकर प्रकट हुई था।

एक विशिष्ट प्रवृत्ति

दसवीं शताब्दी के आस-पास एक विशिष्ट मनोवृत्ति का प्राधान्य भारतीय धर्मसाधना के क्षेत्र में स्थापित होता है, यद्यपि वह नयी नहीं है। कम से कम विक्रम के छठीं शताब्दी से निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के रहने का प्रमाण मिलता है। विरोधी मतों को 'अवैदिक' कहकर हेय सिद्ध करना

अनुयायियों के द्वारा अधिक लिखे गए हैं। इसीलिये ग्रंथों की संख्या का अधिक होना किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रबल प्रभावशाली होना का लक्षण नहीं है।

समसामयिक साधना-पद्धतियाँ एक दूसरे को प्रभावित और रूपांतरित करती रहती हैं इसलिये धार्मिक साधना के इतिहास में छोटी बड़ी सभी प्रवृत्तियों का महत्व रहता है। कभी कभी शुरू में अत्यन्त मामूली दिखलाई पड़नेवाली भावधारा लोकधर्म का अत्यन्त प्रबल रूप धारण करती हुई देखी गई है। हमारे आलोच्यकाल में तांत्रिक साधना ने और योगाभ्यास ने बहुत प्रबल रूप धारण किया था। इस काल की धार्मिक साधना के अध्ययन के लिए हमें अधिकांश संस्कृत पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ता है। दक्षिण भारत की लोकभाषा में लिखे हुए भक्तिमूलक ग्रंथ आगे चलकर जबर्दस्त दार्शनिक और धार्मिक सम्प्रदायों की स्थापना के कारण हुए हैं। इस तथ्य से यह अनुमान करना असंगत नहीं है कि अन्यान्य धर्म-सम्प्रदायों और साधना मार्गों के विकास में भी लोकभाषा का हाथ रहा होगा। इस दृष्टि से जितनी पुस्तकें हमें मिलनी चाहिए उतनी मिली नहीं हैं फिर जो हैं भी उन सबका उद्धार भी कहाँ हुआ है?

पांचरात्र साहित्य बहुत प्राचीन और विशाल है यद्यपि इसके ग्रंथों की आनुश्रुतिक संख्या १०८ ही बताई जाती है तथापि दो सौ से भी अधिक संहिताओं का पता चला है। पर अभी तक कुल १३ संहिताएं ही छपी है उनमें भी नागरी अक्षरों में छः ही उपलब्ध हैं बाकी तेलगु या ग्रंथलिपि में छपी हैं[1]। शैव आगमों और उपागमों की संख्या १९८ बताई जाती है पर

[1]. जयाख्य संहिता (गायकवाड़ सीरीज ५४) के संपादक ने निम्न-लिखित संहिताओं के नाम दिए हैं—अहिर्बुध्न्य संहिता (नागरी) ईश्वर संहिता (तेलगु) कपिंजल संहिता (ते०) जयाख्य संहिता (नागरी) पाराशर संहिता (ते०) पद्मतंत्र संहिता (ते०) बृहद् ब्रह्म संहिता (ते० ना०) भरद्वाज संहिता (ते०) लक्ष्मीतंत्र संहिता (ते०) विष्णुतिलक (ते०) प्रश्न संहिता (ग्रंथ लिपि) और सारस्वत सं० (ना०)।

उनमें से बहुत कम मुद्रित हैं यही बात धारणियों, स्तोत्रों तथा इसी श्रेणी के अन्य साहित्यों के लिये भी सत्य है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है। इस देश में आज जितनी जातियाँ बसती हैं वे सभी सदा से आर्यभाषाभाषी नहीं रही हैं। उत्तर भारत में सर्वत्र जनसाधारण की भाषा आर्य-भाषा बन गई है। आर्यों के आने के पहले इस देश में ऐसी अनेक जातियाँ थी जो आर्येतर भाषा बोला करती थी। आर्यों के साथ इन जातियों का, किसी भूले हुए युग में, बड़ा कठोर संघर्ष हुआ था। असुरों, दैत्यों, नागों, यक्षों राक्षसों आदि के साथ आर्यजाति के सम्य कठोर संघर्ष की कहानियाँ हैं। उन्होंने धीरे धीरे आर्यभाषा और आर्य-विश्वास को स्वीकार कर लिया परन्तु उनके विश्वास और उनकी भाषा ने नीचे से आक्रमण किया और आर्य-भाषा ऊपर से आर्य बने रहने पर भी उनकी भाषाओं और उनके विश्वासों से प्रभावित होती रही। उनके विश्वासों ने हमारी धर्म-साधना और सामाजिक रीति नीति को ही नहीं, हमारी नैतिक परंपरा को भी प्रभावित किया। जैसे जैसे वे आर्य भाषा सीखती गईं वैसे वैसे उन्होंने आर्यों की परंपरागत धर्म-साधना और तत्त्व-चिन्ता को भी प्रभावित किया। धीरे धीरे समूचा उत्तरी भारत आर्य भाषी तो हो गया पर आर्य भाषी बनी हुई जातियों के सम्पूर्ण संस्कार भी उनमें ज्यों के त्यों रह गए। यह ठीक है कि कुछ जातियों ने जल्दी आर्य भाषा सीखी, कुछ ने थोड़ी देर से और कुछ तो जंगलों और पहाड़ों की ऐसी दुर्गम जगहों में जा बसीं कि आज भी वे अपनी भाषा और संस्कृति को पुराने रूप में सुरक्षित रखती आ रही हैं। परिवर्तन उनमें भी हुआ है पर परिवर्तन तो जगत् का धर्म है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित संवत् के प्रथम सहस्र वर्षों तक यह उथल पुथल चलती रही और आज से लगभग एक सहस्राब्दी से कुछ पूर्व ही उत्तर भारत प्रायः पूर्णरूप से आर्यभाषाभाषी हो गया। संस्कृत के पुराण ग्रंथों से हम इन आर्येतर जातियों की सभ्यता और संस्कृति का एक आभास पा सकते हैं। 'आभास' इसलिए कि वस्तुतः ये पुराण आर्यदृष्टि से—तत्रापि ब्राह्मण दृष्टि से—लिखे गए हैं और फिर बहुत पुरानी बातें

होने के कारण इन बातों में कल्पना का अंश भी मिल गया है। बौद्ध और जैन अनुश्रुतियों के साथ इन पौराणिक कथाओं के मिलाने से कुछ कुछ बातें समझ में आ जाती हैं, पर यह तो हम भूल ही नहीं सकते कि ये अनुश्रुतियाँ भी विशेष दृष्टि से देखी हुई हैं। अस्तु, फिर भी जो सामग्री उपलब्ध है वह विपुल है पर इतनी छितराई हुई है कि सबके आधार पर कार्य करना कठिन है। इस विषय की मीमांसा बहुत कम हुई है। बड़ौदा, मैसूर, काशी, कलकत्ता, अड्यार आदि स्थानों से इधर बहुत से अमूल्य ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। चीनी और तिब्बती भाषाओं में अनेक ऐसे ग्रंथों के अनुवादों का संधान मिला है जो मूलरूप में खो गए हैं। सुदूर सुमात्रा, जावा, बाली, थाई-देश आदि देशों के मंदिरों में उत्कीर्ण लेखों से इनके विषय में अनेकानेक तथ्य उद्घाटित हुए हैं पर अभी तक इन सबको मिलाकर मनन करने का प्रयास नहीं हुआ है।

श्री भाण्डारकर की प्रसिद्ध पुस्तक 'वैष्णविज़्म, शैविज्म एण्ड माइनर सेक्टस आव दि हिंदूज' इस विषय की पुरानी पुस्तक हो गई है—यद्यपि अभी बहुत ज्ञातव्य बातों के जानने का आकर वही है। नैपाल में श्री हरप्रसाद शास्त्री के देखे हुए ग्रंथ तथा बौद्धगान और दोहे, श्रेडर की वैष्णव संहिताओं की महत्त्वपूर्ण मीमांसा, आर्थर एवेलेन की तंत्रशास्त्रीय पुस्तकें, श्रीगोपीनाथ कविराज द्वारा लिखित और संपादित शाक्त और नाथमत के लेख और ग्रंथ तथा अन्य अनेक पण्डितों के प्रयत्न अभी छितराई हुई अवस्था में हैं। इस क्षेत्र में उल्लेख्य प्रयत्न फर्कुहर का 'एन आउटलाइन आव दि रिलिजस लिटेचर आव इंडिया' ही है। परन्तु यह पुस्तक अधिकांश में साहित्यिक पैमाइश है। इधर हिंदी में श्री बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य ने 'भारतीयदर्शन' नामक महत्त्वपूर्ण पुस्तक लिखी है जिसमें अब तक उपेक्षित वैष्णव, शैव और शाक्त आगमों के तत्वज्ञान का बड़ा विशद विवेचन है। सब मिलाकर भारत के धर्म सम्प्रदायों के अध्ययन का प्रयत्न अभी बाल्यावस्था में ही है।

---

४. पूर्व-मध्ययुग की विविध साधनाएँ

षष्ठ-दशम शतक के काल में यज्ञयाग के स्थान पर देव-मंदिरों की प्रधानता लक्षित होती है। पूववर्त्तीकाल के आर्य ग्रंथों को आकर रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ती पर दिखाई पड़ती है, वेद प्रामाण्य का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और विरोधी सम्प्रदायों को अवैदिक कहकर उड़ा देने की चेष्टा चरम सीमा तक पहुँच जाती है। दर्शन के क्षेत्र में भाष्यों और टीकाओं के सहारे और धर्म के क्षेत्र में पुराण, उपपुराण और स्तोत्रों के सहारे-आकर ग्रंथों के सिद्धान्त के प्रचार की प्रवृति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है; वैष्णव, शैव, शाक्त गाणपत्य और सौर से लेकर बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तक में मंत्र, यंत्र, मुद्रा आदि का प्रचार बढ़ता दिखाई देता है। प्रायः सभी सम्प्रदायों में उपास्य देवों की शक्तियों की कल्पना की गई है और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती पर दिखाई देती है। यह काल भारतीय मनीषा की जागरूकता, कर्मण्यता और प्रतिभागत उत्कर्ष का काल है। विशेषरूप से लक्ष्य करने की बात यह है कि इस काल में भारतीय धर्म प्रचारकों का दूर दूर देशों से घनिष्ट संबंध बढ़ता ही गया। बौद्धधर्म के प्रचारकों का चीन से जो संबंध इस काल के पूर्व ही स्थापित हो चुका था वह और भी दृढ़ होता गया और इस काल में चीन के दो अत्यन्त उत्साह-परायण, विद्याव्यसनी महापुरुष-हुएन्त्सांग और इत्सिंग-यात्रा रूप में इस देश में आए। ये लोग—विशेषतः हुएन्त्सांग—इस देश से बहुत बड़ी ग्रंथराशि अपने साथ चीन ले गए, जिनमें से अधिकांश का चीनी भाषा में अनुवाद सुरक्षित है यद्यपि वे मूलरूप में खो गए हैं। हुएन्त्सांग के जीवनवृत्त से पता लगता है कि अपने साथ महायान सूत्र के २२४ ग्रंथ, अभिधर्म के १९२ ग्रंथ, स्थविर सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म जातीय १४ ग्रंथ, महासांघिक सम्प्रदाय के इसी श्रेणी के १५ ग्रंथ, महीशासक सम्प्रदाय के तीनों श्रेणियों के २२ ग्रंथ, काश्यपीय,

धर्मगुप्त और सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के इसी प्रकार के क्रमशः १७, ४२, और ६७ ग्रंथ साथ ले गए थे। इस ग्रंथराशि का उद्धार अभी नहीं हुआ है। विक्रम की छठी शती के मध्य या उत्तर भाग में बौद्ध धर्म जापान पहुंचा और सातवीं आठवीं शती में भोट देश (तिब्बत) में कंबोडिया, सुमात्रा, जावा, श्याम और बाली आदि में बौद्ध शैव और वैष्णव धर्मों का प्रवेश इसी काल में हुआ, इस प्रकार हमारे आलोच्यकाल के पूर्वार्द्ध में समूचे पूर्वी देशों में भारतीय धर्म पहुँच चुका था। स्वयं भारत ने भी इसी काल में एक आर्य धर्म को आश्रय दिया। मुसलमान नेताओं के भय से भागे हुए जरथुस्त्र धर्मवालों ने आलोच्यकाल के पूर्वार्ध के अंतिम वर्षों में इस देश में आश्रय पाया था। यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि वह काल जागरण, चिंतन, कर्मण्यता और मानसिक औदार्य का है। परन्तु उसके बाद के काल में शिथिलता अधिक लक्षित होती है। इस काल में भारत का विदेशों से संबंध उत्तरोत्तर शिथिल होता जाता है। इसलाम जैसे नए शक्तिशाली और संघटित धर्म सम्प्रदाय से संपर्क होता है, टीकाओं और निबंधों पर आश्रित होने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है, शास्त्रीय मतवादों को लोकधर्म के सामने झुकना पड़ता है और अंत में लोकधर्म प्रबल भाव से शास्त्रमत को अभिभूत कर लेते हैं।

आलोच्य काल में कुमारिल और प्रभाकर जैसे विख्यात मीमांसकों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कर्म मीमांसा को नवीन शक्ति के रूप में उज्जवित किया; भुवन-विश्रुत आचार्य शंकर का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके अद्वैतवाद ने प्रायः सभी वैदिक सम्प्रदायों को प्रभावित किया; सर्वतंत्रस्वतंत्र वाचस्पति मिश्र का उद्भव भी लगभग इसी काल में हुआ। संभवतः न्याय-दर्शन पर लिखा हुआ वात्स्यायन भाष्य इसी काल के आरंभ में लिखा गया और 'न्यायवर्तिक' के प्रसिद्ध आचार्य उद्योतकर का जन्म तो निश्चित रूप से इसी काल में हुआ। प्रसिद्ध बौद्ध माध्यमक आचार्य चन्द्रकीर्त्ति ने इसी काल में 'माध्यमकावतार' और 'प्रसन्नपदा' (नागार्जुन की कारिका पर टीका) लिखी। इनका समय विक्रम की सातवीं शती का उत्तरार्ध है। शांतिदेव जिनका 'बोधिचर्यावतार' त्याग और आत्मबलिदान का अपूर्व ग्रंथ है, इसी काल में हुए थे। विज्ञान

वादियों के आचार्य चन्द्रगोमिन् भी इसी समय हुए और समंतभद्र और अकलंक जैसे जैन मनीषी भी इसी काल में प्रादुर्भूत हुए। काव्य, नाटक, कथा आख्यायिका, अलंकार आदि के क्षेत्रों में इस काल में जो प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हुए वे पर्याप्त प्रसिद्ध हैं।

इस युग के धर्म विश्वास के मनन के लिये सबसे उपयोगी ग्रंथ पुराण, आगम, तंत्र और संहिताएं हैं। परन्तु पुराणों के बारे में यह कहना कठिन है कि कौन सा पुराण या उसका अंश-विशेष कब रचा गया। भारतीय साहित्य में पुराण कोई नई चीज नहीं है। धर्म सूत्रों और महाभारत में पुराणों की चर्चा आती है। 'आपस्तम्बीय धर्म सूत्र' में तो पुराणों के वचन भी उद्धृत हैं। मनोरंजक बात यह है कि प्रायः सभी मुख्य पुराणों में अष्टादश पुराणों की सूची दी हुई है। अर्थात् प्रत्येक पुराण यह स्वीकार करता है कि उनकी रचना के पहले अन्यान्य पुराण बन चुके थे। इतना तो निश्चित है कि हमारे आलोच्यकाल के पूर्वार्ध के समाप्त होते होते प्रायः सभी पुराण लगभग उसी स्वरूप को प्राप्त कर चुके थे जिसमें वे उपलब्ध हैं। उनमें प्रक्षेप-परिवर्धन बाद में भी होता रहा है, परन्तु परवर्त्तीकाल में साम्प्रदायिक प्रवृत्ति की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि इन प्रक्षिप्त परिवर्धित अंशों को खोज निकालना बहुत कठिन नहीं है। उदाहरणार्थ, 'भागवत पुराण' को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बाद में आई है और पद्मपुराणांतर्गत पाताल खंड का जो 'नरसिंह उप पुराण' है उसमें यह प्रवृत्ति है इसलिए हम उसे परवर्ती समझ सकते हैं। 'पद्मपुराण' के उत्तर खण्ड में और स्कंद पुराण के वैष्णव खण्ड में भी ऐसी ही प्रवृत्ति है, इसलिए इन्हें भी हम परवर्त्ती कह सकते हैं। 'शिव पुराण' के वायवीय संहिता और 'देवी भागवत' में उत्तरकालिक सम्प्रदायों की बातें होने से उनका काल भी बाद का ही होगा। जो हो, हम इतना मान ले सकते हैं कि मुख्य मुख्य पुराणों की रचना इस काल में बहुत कुछ समाप्त हो चुकी थी। इन अठारह पुराणों के नाना भाँति से विभाग किए गए हैं। बताया गया है कि इनमें छः तामस प्रकृति वालों के लिये छः राजस प्रकृतिवालों के लिये और छः सात्विक प्रकृतिवालों के लिये हैं। वैष्णव

६. पांचरात्र और वैष्णव मत

पांचरात्रमत के उपासकों को भागवत कहते हैं। हमारे आलोच्य काल के पूर्वार्ध की मुख्य घटना पांचरात्र संहिताओं का अभ्युत्थान है। यह निर्णय करना कठिन है कि ये संहिताएं कब और कहाँ लिखी गईं। श्रेडर ने अपनी महत्वपूर्ण कृति (इंट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र एंड अहिर्बुध्न्य संहिता) में कहा है कि ईस्वी सन् के पूर्व भी कई संहिताओं का अस्तित्व था। ईसा की आठवीं शती के पूर्व लगभग दस-बारह संहिताएं निश्चित रूप से लिखी जा चुकी थीं। फर्कुहर का अनुमान है कि अधिक संहिताएं छः सौ से आठ सौ ईस्वी तक में लिखी गई हैं। श्रेडर का कहना है कि अधिकांश संहिताएं उत्तर भारत में बनीं और बाद में कुछ दक्षिण भारत में भी बनीं। इन संहिताओं की आनुश्रुतिक संख्या १०८ बताई जाती है, पर संहिताओं के जो भिन्न भिन्न नाम गिनाए गए हैं उनमें सामान्य नाम ग्यारह से अधिक नहीं हैं। श्रेडर ने २१० संहिताओं के नाम गिनाए हैं। उनके मत से जिनमें से सबसे प्राचीन ये हैं—पौष्कर, वाराह, ब्राह्म, सात्वत, जयाख्य, अहिर्बुध्न्य, पारमेश्वर सनत्कुमार, परम, पद्मोद्भव, माहेंद्र, काण्व, पाद्म और ईश्वर। हमारे आलोच्यकाल में ये संहिताएं या तो बन चुकी थी या बन रही थीं।

पांचरात्र संहिताओं में क्या है? शैव आगमों की भांति इन संहिताओं में भी चार विषयों का प्रतिपादन है—(१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव तथा जगत् के पारस्परिक संबंधों का निरूपण; (२) योग, अर्थात् मोक्ष के साधनभूत-योग-प्रक्रियाओं का वर्णन (३) क्रिया अर्थात् देवालय का निर्माण, मूर्तिस्थापन, पूजा आदि और (४) चर्या अर्थात् नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियों तथा यंत्रों की पूजापद्धति, पर्व विशेष के उत्सव आदि[1] परन्तु बहुत कम संहिताओं

---

[1]. देखिए भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४६०।

में चारों विषयों पर ध्यान दिया गया है। कुछ में ज्ञान और योग का निरूपण तो नाम मात्र को है; परन्तु क्रिया और चर्या का विस्तारपूर्वक वर्णन सभी में हुआ है। 'पाद्मतंत्र' नामक संहिता में सभी बातें हैं; पर योग के लिये ग्यारह ज्ञान के लिये पैंतालिस, क्रिया के लिये दो सौ पंद्रह और चर्या के लिये तीन सौ छिहत्तर पृष्ठ खर्च किए गए हैं।[1] इसीसे संहिताओं का प्रधान वक्तव्य समझा जा सकता है। वस्तुतः क्रिया और चर्या ही संहिताओं के प्रिय और प्रधान विषय हैं, और यही बात अन्यान्य आगमों के बारे में भी सत्य है। इसीलिये संहिताओं को वैष्णवों का कल्पसूत्र कहा जाना ठीक ही है। शास्त्रीय विभाग को छोड़ दिया जाय तो संहिताओं में तत्त्वज्ञान, मंत्रशास्त्र, यंत्रशास्त्र, मायायोग, योग, मंदिर निर्माण, प्रतिष्ठाविधि, संस्कार (आह्निक) वर्णाश्रम और उत्सव इन दस विषयों का ही विस्तार है[2]।

पांचरात्र मत का प्रसिद्ध और विशिष्ट मत चतुर्व्यूह सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) संकर्षण से प्रद्युम्न (=मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (=अहंकार) की उत्पत्ति होती है। शंकराचार्य ने इस सिद्धांत का खण्डन किया है। इस तथ्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में यही मत पांचरात्रों में अधिक प्रचलित रहा होगा। सभी संहिताओं में यह सिद्धान्त नहीं पाया जाता। जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं उस काल में पांचरात्र संहिताएं निश्चय ही पूजा और अन्यान्य व्रतादि अनुष्ठानों में प्रयुक्त रही होंगी। दक्षिण में इस समय भी बहुत से मंदिरों में भागवत अर्चक हैं, और प्राचीनकाल में और भी अधिक रहे होंगे। तामिल देश के अधिकांश मंदिरों में पांचरात्र संहिताओं के अनुसार पूजा होती है, परन्तु अब भी ऐसे देवालय हैं जिनमें वैखानस संहिताएं व्यवहृत होती हैं। कहते हैं कि रामानुजाचार्य द्वारा विरोध के कारण बहुत से मंदिरों से वैखानस

---

1. देखिए श्रेडरकृत इंट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र एण्ड आहिर्बुध्न्य-संहिता, पृष्ठ २२।

2. देखिए वही, पृष्ठ २६

ये हैं 'नारायण' और 'आत्मबोध उपनिषद्'। आगे चलकर श्री वैष्णवों में अष्टाक्षर मंत्र मान्य हुआ था।

दस अवतारों की कल्पना बहुत पुरानी है, शायद बुद्ध से भी पुरानी। यद्यपि दस अवतारों में बाद में बुद्ध का नाम भी आता है तथापि 'नारायणीयोपाख्यान' में जिन दस अवतारों के नाम हैं उनमें से प्रथम अवतार हंस है तथा नवां और दसवां सात्वत और कल्कि[1]। इसमें बुद्ध का नाम नहीं है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि अवतार की कल्पना बुद्ध से पहले की है। हमारे आलोच्यकाल में 'नृसिंह पूर्व तापनीय' और 'नृसिंह उत्तर तापनीय' नामक दो उपनिषदों का प्रचार पाया जाता है। इनमें नृसिंह मंत्र की महिमा है। इससे यह अनुमान किया गया है कि नरसिंहमत उन दिनों प्रतिष्ठित हो चुका होगा। पंचदेवोपासकों में नृसिंह और बराह की पूजा प्रचलित थी। बाणभट्ट की 'कादंबरी' में नृसिंह की वंदना है और उस युग की अनेक बराह मूर्त्तियां पाई गई है। राम के अवतार को विशिष्ट उपास्य समझकर भी कोई सम्प्रदाय उन दिनों प्रतिष्ठित होना चाहिए। आलोच्यकाल के पूर्वार्ध में 'राम पूर्व तापनीय' और 'राम उत्तर तापनीय' उपनिषदों का पता लगता है। 'अगस्त्य-सुतीक्ष्ण संवाद' नामक इस काल की संहिता भी है जिसमें रामतत्व का बखान है। इस समय सूर्य और गणेश को प्रधान मानकर भी सम्प्रदाय अवश्य प्रतिष्ठित हुए होंगे। नैपाल में 'सौर संहिता' नामक पुस्तक की एक प्रति मिली है जो सं० ६६८ विक्रमी की लिखी हुई है। बाण के समकालीन कवि मयूर के 'सूर्यशतक' से भी पता चलता है कि सौर उपासना उन दिनों प्रचलित रही होगी। प्रसिद्ध जैन आचार्य मानतुंग के 'भक्तामर स्तोत्र' से भी

---

[1]. हंसः कूर्मश्च मत्स्यश्च प्रादुर्भावो द्विजोत्तम ।
वाराहो नारसिंहश्च वामनो राम एव च ।
रामो [illegible] ‍सात्वतः कल्किरेव च ॥ शांति पर्व ३३९, १०३ ।

७. पाशुपत मत और शैवागम

हमारे आलोच्यकाल में शैवों का पाशुमत अधिक प्रबल था। हुएन्त्सांग ने अपने यात्रा-विवरण में इस मत का बारह बार उल्लेख किया है। बाणभट्ट के ग्रंथों में पाशुपतों की चर्चा है और शंकराचार्य ने अपने 'शारीरक भाष्य में (२, २, ३७) इस मत का खंडन किया है। 'लिंगपुराण' से पता चलता है कि उस समय पाशुमत की शाखाएं थीं—वैदिक, तांत्रिक और मिश्र। तांत्रिक पाशुपत लिंग से तप्त चिह्न और शूल धारण करते थे, वैदिक पाशुपत लिंग, रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे तथा मिश्र पशुपत समान भाव से पंचदेवों की उपासना करते थे[१]। वामन पुराण (अध्याय ५) से शैव पाशुपत' कालामुख और कपाली जाति के पाशुपतों का पता चलता है।

हमारे आलोच्यकाल के पूर्वार्ध में लकुलीश के पाशुपत मत और कापालिक संप्रदायों का पता चलता है। गुजरात में लकुलीश पाशुपत का का प्रादुर्भाव बहुत पहले हो चुका था, पर पंडितों का मत है कि उसके तत्त्वज्ञान का विकास विक्रम की सातवीं आठवीं शती में हुआ होगा। यह मत इस समय तक मध्य और दक्षिण भारत में फैल चुका था। वे लोग जीव मात्र को पशु कहते हैं, शिव पशुपति हैं। पशुपति ने बिना किसी कारण साधन या सहायता के इस जगत् का निर्माण किया है। पशुपति ही समस्त कार्यों के

---

१. तांत्रिकं वैदिकं मिश्रं त्रिधा पाशुमतं शुभम्॥
तप्तलिंगांकशूलादिधारणं तांत्रिकं मतम्।
लिंगरुद्राक्षभस्मादि धारणं वैदिकं भवेत्।
रविं शंभुं तथा शक्तिं विघ्नेशं च जनार्दनम्।
यजन्ति समभावेन मिश्रं पाशुमतं हि तत्॥

श्रीकर भाष्य में उद्धत॥

शामिल है। इनमें से आन्तरिक निवृत्ति और बाह्य ऐश्वर्य प्राप्ति—इन दो बातों पर इनका विश्वास था। कापालिक लोग वाममार्गी थे। संभवतः गृहस्थों में इनके सिद्धांतों का प्रचार नहीं था। भवभूति के 'मालती माधव' में चामुंडा पूजक और अघोर घंट नामक कापालिक का वर्णन है। ये लोग मानव-बलि भी दिया करते थे।

अनुश्रुति के अनुसार शैवागमों की संख्या अट्ठाईस है और उपागमों की एक सौ [illegible]। कुछ पंडित आगमों के बनने का स्थान उत्तर भारत (विशेषकर काश्मीर) बताते हैं। दक्षिण के शैव भक्तों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। जो तीन प्रसिद्ध शैव भक्त हो गए हैं, उनके नाम हैं—ज्ञान संबंधर, अप्पर, और सुन्दरमूर्ति। प्रथम दो भक्त विक्रम के सातवीं शती के उत्तरार्ध में हुए और अंतिम आठवीं-नवीं शती में। यद्यपि इनके भजनों में आगमों की बात आ जाती है तथापि मूलरूप से महाभारत और पुराणों से ही प्रभावित बताए जाते हैं। एक अत्यन्त प्रभावशाली कवि माणिक्कवाचकर हुए हैं (विक्रम की दसवीं शती) जो भाषा, भाव, तत्वज्ञान और काव्य मर्म के उत्तम जानकार थे। इनके विषय में जो कुछ बातें हम नानासूत्रों से जान सके हैं उनसे विदित होता है कि वे तामिल शैवों के तुलसीदास कहे जा सकते हैं। इनकी रचनाओं में आगमों का प्रचुर प्रभाव है।

इस काल में शैवों की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा काश्मीर में थी। इस शाखा की तत्व चिंता पर आगमों का प्रभाव है। शाखा के दार्शनिक मत को प्रत्यभिज्ञा, त्रिक या स्पंद कहते हैं। शिव, शक्ति और अणु या पशु, पाश और पति—इन तीन तीन का प्रतिपादन होने से इस मत को त्रिक कहते हैं। अनुश्रुति है कि शिवजी ने अपने शैवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धांत के प्रचारार्थ इस मत को प्रकट किया और दुर्वासा ऋषि को इसे प्रचार करने का आदेश दिया। इस मत के मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त विक्रम की आठवीं शती में हुए होंगे। कहते हैं कि शिवसूत्र के सतहत्तर सूत्र महादेव गिरि की किसी शिला पर उत्कीर्ण थे। स्वप्न में शिवजी द्वारा आदेश पाकर वसुगुप्त ने उनका उद्धार किया था। इन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अपनी 'स्पंद कारिका' की बावन

कारिकाएं लिखीं। इनके दो शिष्य हुए कल्लट और सोमानंद। कल्लट ने त्रिकदर्शन का और सोमानंद ने प्रत्यभिज्ञादर्शन का प्रतिपादन किया। सोमानंद के शिष्य उत्पल थे और उनके प्रशिष्य थे प्रसिद्ध अभिनव गुप्त पादाचार्य। कई पंडित इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि शैवागमों में जितना अद्वैत मत है उससे भी अधिक इस प्रत्यभिज्ञा मत में है।

हम पहले ही लक्ष्य कर चुके हैं कि पूर्वी भारत में फैले हुए शाक्तमत के साथ इस काश्मीरी शैव मत का संबंध था। पर इसका मतलब यह नहीं है कि शक्तिपूजा शैवमत की इसी समय की निकली हुई एक शाखा है। कुछ विद्वानों ने इसी प्रकार समझाने की चेष्टा की है। यह संभव है कि शाक्तमार्ग शैव मार्ग का ही एक शाखा हो, परन्तु यह अनुमान का ही विषय है। जो तथ्य हमें उपलब्ध हैं उनके आधार पर हम निश्चितरूप से कह सकते हैं कि हमारे आलोच्यकाल में शाक्तमत शैवमत से अलग वैशिष्ट्य रखता है। 'कुब्जिकामत तंत्र' की एक प्राचीन प्रति गुप्तकालीन लिपि में लिखी हुई मिली है। इसका अर्थ यह हुआ कि 'कुब्जिकामत तंत्र' हमारे आलोच्य-काल के पूर्व विद्यमान था। संवत् ६०१ का लिखित 'परमेश्वरमत तंत्र' और उसी समय का 'महाकुलांगना विनिर्णय तंत्र' प्राप्त हुआ है। बाणभट्ट की पुस्तकों से शाक्तमत के पृथक् अस्तित्व का समर्थन होता है। शैव आगमों की ही भांति इन शाक्ततंत्रों में अद्वैत स्वर ही प्रबल है। संमोहन तंत्र (अध्याय ८) में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शक्ति और नारायण एक ही हैं। जो आदि नारायण हैं वे ही परम शिव हैं, वे ही निर्गुण ब्रह्म हैं। आद्या ललिता महाशक्ति ने ही श्रीकृष्ण और श्रीराम का पुरुष-विग्रह धारण किया था (अध्याय ६) और मूर्ख लोग ही राम और शिव में भेद देखते हैं। शैव और शाक्त दोनों ही छत्तीस तत्त्वों में विश्वास करते हैं। आगे चलकर शैवों में नाथ, कापालिक रसेश्वर आदि कई सम्प्रदाय हुए, जिनका तत्त्व ज्ञान थोड़ा बहुत भिन्न है, परन्तु सर्वत्र मूलस्वर अद्वैत-प्रधान है। 'कौलावलि-निर्णय' (२१ अध्याय) में शैव पद, विष्णुपद,

हंसपद, निरंजनपद और निरालंबन पद को एक ही परम पद का नामांतर बताया गया है[1]।

'सम्मोहन तंत्र' में बाईस भिन्न भिन्न आगमों का उल्लेख है, जिनमें चीनागम, पाशुपत, पांचरात्र, कापालिक, भैरव, अघोर, जैन और बौद्ध आगमों की भी चर्चा है। उस समय ये सभी मत प्रचलित रहे होंगे। बौद्ध तंत्र की तो अनेक बातें प्रकाशित हुई हैं, पर जैन मत के तंत्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' आदि ग्रंथों से अनुमान किया जा सकता है कि हमारे आलोच्यकाल में जैनमत में भी निश्चय ही तंत्रों का प्रचार रहा होगा।

इस काल की समाप्ति के आसपास ही परम शक्तिशाली 'भागवत पुराण' का अभ्युदय होता है। उत्तर कालीन धर्ममत और साहित्य को इस पुराण ने अधिक प्रभावित किया है। इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ 'श्री भाष्य' है। इन दोनों ग्रंथों का प्रभाव उत्तरकालीन वैष्णव सम्प्रदायों पर बहुत अधिक पड़ा है। आगे चलकर पांचरात्र संहिताओं, विष्णुपुराण और 'श्री भाष्य' का आश्रय लेकर एक वैध मार्गी वैष्णव साधना विकसित हुई और दूसरी रागानुग मार्गी या आवेश और उल्लासमय भक्ति मार्गी साधना 'भगवान' का आश्रय लेकर विकसित हुई। उत्तरकाल के वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय 'भागवत' को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। 'भागवत पुराण' श्रीकृष्ण के प्रेममूलक भक्ति धर्म का प्रतिपादक है इस पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और अन्य अवतार अंशकला मात्र हैं। भगवान् के दो रूप हैं—निरवच्छिन्न चैतन्य निराकार रूप

---

[1]. एतस्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशक्तेः पदम्।
शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्क्रियम्।
तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति सुधियः केचित्पदं ब्रह्मणः।
केचिद्धंसपदं निरंजनपदं केचिन्निरालम्बनम्॥

—कौलावलि निर्णय, पृष्ठ १४०।

और सत्तावच्छिन्न चैतन्यसाकार रूप। आगे चलकर 'भागवत' और संहिताओं के इन दो उत्सों से चार वैष्णव सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। ये चार हैं— श्री वैष्णव, ब्रह्म, रुद्र और सनक। श्री वैष्णव मत के आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत मत के, ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्य मध्व (आनंद तीर्थ) द्वैत के, रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी और उनके अनुयायी वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत के और सनक सम्प्रदाय के आचार्य निंबार्क द्वैताद्वैत मत के प्रवर्तक हैं। चैतन्य सम्प्रदाय यद्यपि मध्वमत की ही शाखा है पर उसका अपना विशाल साहित्य है और उसके तत्त्ववाद का नाम अचिंत्य भेदाभेदवाद है। इस उत्तरार्धकाल की विशेषता है सम्प्रदायों प्रौढ़ संघटन। भारत वर्ष में शायद ही इतने संघवद्धरूप में सम्प्रदायों का का कभी आविर्भाव इससे पहले हुआ हो।

दक्षिण में जब इस भक्ति मूलक वैष्णवधर्म का अभ्युदय हो रहा था तब उत्तर में एक शक्तिशाली योगमत का प्रादुर्भाव हुआ। उसकी कहानी कहे बिना हमारे आलोच्यकाल का इतिहास अधूरा ही रह जाएगा। आगे चलकर इस योग मार्ग का संबंध भक्तिमार्ग के साथ हुआ और कबीरदास के द्वारा दोनों के समन्वय से एक नवीन साधना-मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ। यह घटना हमारे आलोच्यकाल के बाद की है इसलिये उसकी चर्चा यहाँ नहीं की गई।

८. कापालिक मत

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तांत्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिव ज्ञेय हैं। उपास्य हैं—उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) हैं—'शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।' और इसी भाव को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने सौंदर्य लहरी में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हों तभी कुछ करने में समर्थ हैं नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते—

> शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवतिशक्तः प्रभावितुं।
> न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

तांत्रिक लोगों का मत है कि परम शिव के न रूप हैं न गुण और इसीलिए उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न है और केवल 'नेतिनेति' अर्थात् यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर शिव) केवल जाने जा सकते हैं, उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति है। इस शक्ति की उपासना के बहाने भवभूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है। शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनुमान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परम शिव को निष्क्रिय-निरंजन होने के कारण केवल ज्ञानमात्र का विषय (ज्ञेय) समझते हों।

वस्तुतः दसवीं शती के आसपास लिखी हुई एक-दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता

और सत्तावच्छिन्न चैतन्यसाकार रूप। आगे चलकर 'भागवत' और संहिताओं के इन दो उत्सों से चार वैष्णव सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ। ये चार हैं—श्री वैष्णव, ब्रह्म, रुद्र और सनक। श्री वैष्णव मत के आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत मत के, ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्य मध्व (आनंद तीर्थ) द्वैत के, रुद्र सम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी और उनके अनुयायी वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत के और सनक सम्प्रदाय के आचार्य निंबार्क द्वैताद्वैत मत के प्रवर्तक हैं। चैतन्य सम्प्रदाय यद्यपि मध्वमत की ही शाखा है पर उसका अपना विशाल साहित्य है और उसके तत्त्ववाद का नाम अचिंत्य भेदाभेदवाद है। इस उत्तरार्धकाल की विशेषता है सम्प्रदायों प्रौढ़ संघटन। भारत वर्ष में शायद ही इतने संघबद्धरूप में सम्प्रदायों का का कभी आविर्भाव इससे पहले हुआ हो।

दक्षिण में जब इस भक्ति मूलक वैष्णवधर्म का अभ्युदय हो रहा था तब उत्तर में एक शक्तिशाली योगमत का प्रादुर्भाव हुआ। उसकी कहानी कहे बिना हमारे आलोच्यकाल का इतिहास अधूरा ही रह जाएगा। आगे चलकर इस योग मार्ग का संबंध भक्तिमार्ग के साथ हुआ और कबीरदास के द्वारा दोनों के समन्वय से एक नवीन साधना-मार्ग का प्रादुर्भाव हुआ। यह घटना हमारे आलोच्यकाल के बाद की है इसलिये उसकी चर्चा यहाँ नहीं की गई।

८. कापालिक मत

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तांत्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिव ज्ञेय हैं। उपास्य हैं—उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) हैं—'*शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।*' और इसी भाव को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने सौंदर्य लहरी में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हों तभी कुछ करने में समर्थ हैं नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते—

> शिवः शक्तयायुक्तो यदि भवतिशक्तः प्रभावितुं।
> न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

तांत्रिक लोगों का मत है कि परम शिव के न रूप हैं न गुण और इसीलिए उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न हैं और केवल 'नेतिनेति' अर्थात् यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर शिव) केवल जाने जा सकते हैं, उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति है। इस शक्ति की उपासना के बहाने भवभूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है। शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनुमान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परम शिव को निष्क्रिय-निरंजन होने के कारण केवल ज्ञानमात्र का विषय (ज्ञेय) समझते हों।

वस्तुतः दसवीं शती के आसपास लिखी हुई एक-दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता

हैं। प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाटक में सोमसिद्धांत नामक कापालिक का वर्णन है। कहा गया है कि वे मद्यपान करते हैं, स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[१] इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटककार ने इनके मत को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के संबंध में जनसाधारण की जैसी धारणा थी उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव समझे गए हैं। इसी प्रकार पुष्पदंत विरचित महापुराण में अनेक स्थलों पर कापालिकों और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव योगी माना गया है और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेख योग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के मालती माधव नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध-भिक्षुणी श्री पर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। मालती-माधव से जान पड़ता है कि यह कापालिक साधना शैव मत की थी। श्री पर्वत उन

---

१. मन्तो ण तन्तो ण अ किं पि जाणं,
झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिवामो महिलं रमामो,
मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा,
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा,
कोलो धम्मो कस्स णो भोदि रम्मो॥
मुत्तिं भणन्तिं हरि ब्रह्ममुखादि देवा,
झाणेण वे अपठणेण कदुक्किआए।
एक्केण केवलमुमादइएण दिट्ठो,
मोक्खो समं सुरअकेलि सुरारसेहि॥
कर्पूर मंजरी १।२२—२[illegible]

दिनों का प्रसिद्ध तांत्रिक पीठ था। वज्रयान का उत्पत्ति स्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्री पर्वत पर शैव, बौद्ध और शाक्त साधनाएँ पास ही पास फल फूल रही थी।

बाणभट्ट ने कादम्बरी और हर्ष चरित में श्री पर्वत को शाक्तंत्र का साधनपीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालंधर-पाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता में प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालंधर और कानपा दोनों को अपनाया है। इसीलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है वह निस्संदेह नाथ मार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा सम्प्रदाय को अब भी पूर्णरूप से गोरखनाथी सम्प्रदाय में नहीं माना जाता। उनका प्रवर्तित कहा जानेवाला एक उपसम्प्रदाय बामारग (=वाम मार्ग) आज भी जीवित है।

है। प्रबोध चन्द्रोदय नामक नाटक में सोमसिद्धांत नामक कापालिक का वर्णन है। कहा गया है कि वे मद्यपान करते हैं, स्त्रियों के साथ विहार करते हैं और सहज ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।[1] इसमें कोई संदेह नहीं कि नाटककार ने इनके मत को जैसा समझा था वैसा ही चित्रित किया है। इन चित्रणों को हमें उचित सतर्कता के साथ ही ग्रहण करना चाहिए। कापालिकों के संबंध में जनसाधारण की जैसी धारणा थी उसी का चित्र इन नाटकों में मिलता है। सर्वत्र ये कापालिक शैव समझे गए हैं। इसी प्रकार पुष्पदंत विरचित महापुराण में अनेक स्थलों पर कापालिकों और कौलाचार्यों का उल्लेख है। सर्वत्र उन्हें शैव योगी माना गया है और सर्वत्र उनके मद्यपान का उल्लेख है। परन्तु बौद्ध कापालिक मत का कोई उल्लेख योग्य वर्णन नहीं मिलता। भवभूति के मालती माधव नामक प्रकरण से पता चलता है कि सौदामिनी नामक बौद्ध-भिक्षुणी श्री पर्वत पर कापालिक साधना सीखने गई थी। मालती-माधव से जान पड़ता है कि यह कापालिक साधना शैव मत की थी। श्री पर्वत उन

---

[1]. मन्तो ण तन्तो ण अ किं पि जाणं,
झाणं च णो किं पि गुरुप्पसादा।
मज्जं पिवामो महिलं रमामो,
मोक्खं च जामो कुलमग्गलग्गा॥
रण्डा चण्डा दिक्खिदा धम्मदारा,
मज्जं मंसं पिज्जए खज्जए अ।
भिक्खा भोज्जं चम्मखंडं च सेज्जा,
कोलो धम्मो कस्स णो भादि रम्मो॥
मुत्तिं भणन्ति हरि ब्रह्ममुखादि देवा,
झाणेण वे अपठणेण कदुक्किआए।
एक्केण केवलमुमादइएण दिट्ठो,
मोक्खो समं सुरअकेलि सुरारसेहि॥
कर्पूर मंजरी १।२२—२४

दिनों का प्रसिद्ध तांत्रिक पीठ था। वज्रयान का उत्पत्ति स्थान भी उसे ही समझा जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों श्री पर्वत पर शैव, बौद्ध और शाक्त साधनाएँ पास ही पास फल फूल रही थी।

बाणभट्ट ने कादम्बरी और हर्ष चरित में श्री पर्वत को शाक्ततंत्र का साधनपीठ बताया है। हमारे पास इस समय जालंधर-पाद और कृष्णपाद का जो भी साहित्य उपलब्ध है वह सभी वज्रयानियों की मध्यस्थता में प्राप्त हुआ है। यह तो निश्चित ही है कि परवर्ती शैव सिद्धों ने जालंधर और कानपा दोनों को अपनाया है। इसीलिए यह कह सकना कठिन है कि जिस रूप में यह साहित्य हमें मिलता है वही उसका मूल रूप है या नहीं। किन्तु इस उपलब्ध साहित्य से जिस मत का आभास मिलता है वह निस्संदेह नाथ मार्ग का पुरोवर्ती होने योग्य है। यहाँ यह बात उल्लेख योग्य है कि कानिपा सम्प्रदाय को अब भी पूर्णरूप से गोरखनाथी सम्प्रदाय में नहीं माना जाता। उनका प्रवर्तित कहा जानेवाला एक उपसम्प्रदाय बामारग (= वाम मार्ग) आज भी जीवित है।

६. जैन मरमी

आठवीं-नवीं शताब्दी में एक प्रसिद्ध जैन मरमी संत हो गए हैं। उनकी अपभ्रंश की रचनाओं में वे सभी विशेषताएं पाई जाती हैं जो उस युग के बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों और तांत्रिकों के ग्रंथ में प्राप्त होती हैं। बाह्याचार का विरोध, चित्तशुद्धि पर ज़ोर देना, शरीर को ही समस्त साधनाओं का आधार समझना और समरसी भाव से स्वसंवेदन आनंद का उपभोग—जिससे जीव निष्कंचुक होकर शिव हो जाता है—उस युग की साधना की विशेषताएं हैं। अत्यन्त कट्टर जैन साधक भी भिन्न मार्ग से चलते हुए इसी परमसत्य तक पहुँचे थे। अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तांत्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेंगी। वे ही शब्द, वे ही भाव, और वे ही प्रयोग घूम फिरकर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते हैं। जब जैन साधक जोइन्दु कहते हैं कि देवता न तो देवालय में है, न शिला में, न चंदन प्रभृति लेप्य पदार्थों में और न चित्र में—वह अक्षय निरंजन ज्ञानमय शिव तो सम चित्त में निवास करता है—

> देउण देउले णवि सिलए,
>
> णवि लिप्पइ ण वि चित्ति।
>
> अखय णिरंजणु णाणघणु,
>
> सिउ संठिउ समचित्ति॥

(परमात्मप्रकाश १—१२३)

तो यह भाषा वस्तुतः उस युग के अन्यान्य मतानुयायी साधकों की भाषा से भिन्न नहीं है। यह परम्परा बाद में कबीर आदि निर्गुण मत के साधकों में ज्यों की त्यों चली आई है।

'सामरस्य भाव' उस युग की एक महत्त्वपूर्ण साधना है। सभी साधक मार्ग इस शब्द का व्यवहार करते हैं। उनके अलग-अलग तत्त्ववाद हैं। उन्हीं से इन व्याख्याओं का पोषण होता है। पर परिणाम में स्वभावतः सब एक हैं। शिव और शक्ति के मिलनाभाव से ही, शाक्त और शैव साधना के अनुसार यह सृष्टि-प्रपंच है। शिव की आदि सिसृक्षा ही शक्ति है। सिसृक्षा अर्थात् सृष्टि की इच्छा। इच्छा अभाव का प्रतीक है। इसीलिये सृष्टि 'निषेध व्यापार-रूपा' है। तभी तक ये द्वन्द्व हैं जब तक शिव और शक्ति का मिलन नहीं हो जाता। सौभाग्य भास्कर में (पृष्ठ १६१) इसलिये शिव और शक्ति के मिलन को, उनके न्यूनाधिकत्व के अभाव को सामरस्य कहा है। पिण्ड में मन का जीवात्मा में निशेभूत हो जाना या एकमेक होकर मिल जाना ही यह सामरस्य है। जैन साधक जोइन्दु ने भी कहा है कि मन जब परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर जब मन से तो दोनों का समरसीभाव अर्थात् सामरस्य हो जाता है। इस अवस्था में साधक को पूजा और उपासना की आवश्यकता नहीं रहती। वह परम आनन्द को पा जाता है और फिर पूज्य-पूजक संबंध समाप्त हो जाता है; क्योंकि जब जीव और परमात्मा में कोई भेद ही नहीं रहा तो कौन किसकी पूजा करे:

मणु मिलियउँ परमेसरहँ,
परमेसरु वि मणस्सु।
बेहि वि समरस हूवाहँ,
पुज्ज चडावउं कस्सु।

(परमात्मप्रकाश १, १२३, २)

शाक्त और शैव साधक मानते हैं कि चूँकि यह ज्ञान-ज्ञातृज्ञेयरूपासृष्टि एक मात्र आदि शक्ति के कारण ही उत्पन्न हुई है, इसलिये इस समस्त परिदृश्यमान जगत् में मेरुदण्ड के समान सब कुछ में आधार रूप से वह शक्ति ही स्थित है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब कुछ पिण्ड में भी है। सत्व, रज, तम, काल और जीव के न्यूनत्व और अधिकत्व वश यह जगत् भिन्न-भिन्न पदार्थों के रूप में दिखाई देता है। मनुष्य के शरीर में जीवनी शक्ति का चरम

विकास हुआ है। शैव नाथपंथी भी यही विश्वास करते थे। सिद्धसिद्धान्त संग्रह में इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्माण्ड में जो कुछ है वह सब पिण्ड में वर्त्तमान रहता है —

ब्रह्माण्डवर्ति यत् किञ्चित् तत् पिंडेप्यस्ति सर्वथा।

(सि० सि० सा० ३। २)

समरसी भाव ही सार साधना है।

(मुनि रामसिंह पाहुड़ दोहा १७६)

इसी भाव को कबीरदास ने कहा है कि 'जो जो पिण्डे सोइ ब्रह्मण्डे।' यह मानव देह ही साधना का सर्वोत्तम उपादान है। देवता कहीं बाहर नहीं है। नाना प्रकार की साधनाओं से जीव इसी पिण्ड में विद्यमान शिव के साथ अपना अभेद संबंध जोड़ सकता है। उस समय उसके मन से भेद बुद्धि एकदम तिरोहित हो जाती है। इसीलिये नाना भाँति की यौगिक क्रियाओं से चित्तशुद्धि अपेक्षित है। जोइन्दु ने भी इसी चित्तशुद्धि पर जोर दिया है

जोइय णिञ मणि णिम्मलए,
पर दीसइ सिव सन्तु।
अम्बरि णिम्मले घण रहिए
भाणु वि जेम फुरान्तु॥

(प० प्र० १। ११६)

—हे योगी, अपने निर्मल मन में ही शांत शिव का दर्शन होता है। निर्मल घन रहित आकाश में ही सूर्य चमकता है। सो, यह शिव कहीं बाहर नहीं है।

शाक्त साधक के मत से ब्रह्माण्ड में जो शक्ति है वही व्यष्टि शरीर में स्थित होकर कुण्डलिनी है। शिव सहस्रार में रहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध करने से मन स्थिर होता है। और कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होकर परम शिव से जब मिलती है तो वह समरस भाव उत्पन्न होता है जो साधक या अन्तिम लक्ष्य है। नाथ मत के साधकों का विश्वास है कि इस अवस्था में पिण्ड और ब्रह्माण्ड का भेद जाता रहता है और साधक उस स्वसंवेदन रस का अनुभव करता है जिसके आगे और किसी रस की स्पृहा नहीं रह जाती—

उन्मनस्करणं यदान्यथा परमादाखिल विकल्पोऽरिदानीम् ।
यदनुभवबलेन योगनिद्रा-द्रुतपदेषु गतस्पृहा भवन्ति ॥
(सिद्ध सिद्धान्त सार ७, ५, १)

जटाधर संहिता में इसी अवस्था के लिए कहा गया है कि इसमें मन, बुद्धि संवित् ,ऊहापोह, तर्क वितर्क सब कुछ शांत हो जाते हैं—

यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति सत्ता संवित् पराकला ।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥

और बौद्ध साधक सरहपाद ने इसी अवस्था के लिये कहा है—इस अवस्था में मन और प्राण उपरतवृत्ति हो जाते हैं। इडा और पिंगला की गति रुक जाती है, न इसमें आदि अंत का सवाल रहता है, न जन्म मरण का भय और न अपने पराए का ज्ञान; यही परम महासुख है—

जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि णाहि पवेश ,
तहि वट चित्त विशाम करु सरहे कहिय उवेश ।
आइ न अंत न मज्झ णहु, णहु भव णहु णिव्वाण,
एहु सो परम महासुह, णहु पर णहु अप्पाण ।

जैन साधकों के शास्त्रों में परमात्मा का वही अर्थ नहीं है, जो शैव या अन्य वैदिक मतानुयायी साधकों के ग्रंथों में प्रकट है। जैन साधक अगणित आत्माओं में विश्वास करते हैं। ये आत्मा मुक्त होने के बाद परमात्मा हो जाते हैं। परमात्मा अगणित हैं, परन्तु उनके गुण एक से हैं, इसलिये वे 'एक' कहे जा सकते हैं। यह पद ज्ञान से प्राप्तहोता है और ज्ञान का साधन चित्त शुद्धि है। वस्तुतः चित्त-शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। चाहे जीव जितने तीर्थों में नहाता फिरे और जितनी तपस्या करता फिरे, मोक्ष तभी होगा जब चित्त शुद्ध हो। जोइन्दु कहते हैं—

जहिं भावइ तहिं जाइ जिय, जं भावइ करि तंजि ।
केम्वइ मोक्ख ण अत्थि पर, चित्तहं शुद्धि णं जं जि ।
(परमात्मप्रकाश २, ७०)

विकास हुआ है। शैव नाथपंथी भी यही विश्वास करते थे। सिद्धसिद्धान्त संग्रह में इसीलिये कहा गया है कि ब्रह्माण्ड में जो कुछ है वह सब पिण्ड में वर्त्तमान रहता है—

ब्रह्माण्डवर्ति यत् किञ्चित् तत् पिंडेप्यस्ति सर्वथा।

(सि० सि० सा०३। २)

समरसी भाव ही सार साधना है।

(मुनि रामसिंह पाहुड़ दोहा १७६)

इसी भाव को कबीरदास ने कहा है कि 'जो जो पिण्डे सोइ ब्रह्मण्डे।' यह मानव देह ही साधना का सर्वोत्तम उपादान है। देवता कहीं बाहर नहीं है। नाना प्रकार की साधनाओं से जीव इसी पिण्ड में विद्यमान शिव के साथ अपना अभेद संबंध जोड़ सकता है। उस समय उसके मन से भेद बुद्धि एकदम तिरोहित हो जाती है। इसीलिये नाना भाँति की यौगिक क्रियाओं से चित्तशुद्धि अपेक्षित है। जोइन्दु ने भी इसी चित्तशुद्धि पर जोर दिया है

जोइय णिञ मणि णिम्मलए,
पर दीसइ सिव सन्तु।
अम्बरि णिम्मले घण रहिए
भाणु वि जेम फुरन्तु॥

(प० प्र० १। ११६)

—हे योगी, अपने निर्मल मन में ही शांत शिव का दर्शन होता है। निर्मल घन रहित आकाश में ही सूर्य चमकता है! सो, यह शिव कहीं बाहर नहीं है।

शाक्त साधक के मत से ब्रह्माण्ड में जो शक्ति है वही व्यष्टि शरीर में स्थित होकर कुण्डलिनी है। शिव सहस्रार में रहते हैं। कुण्डलिनी शक्ति को उद्बुद्ध करने से मन स्थिर होता है। और कुण्डलिनी शक्ति उद्बुद्ध होकर परम शिव से जब मिलती है तो वह समरस भाव उत्पन्न होता है जो साधक या अन्तिम लक्ष्य है। नाथ मत के साधकों का विश्वास है कि इस अवस्था में पिण्ड और ब्रह्माण्ड का भेद जाता रहता है और साधक उस स्वसंवेदन रस का अनुभव करता है जिसके आगे और किसी रस की स्पृहा नहीं रह जाती—

समस्तकरणं यदावस्थां परमपदाऽस्ति सिद्धयोगिनाम्।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा-इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति॥
(सिद्ध सिद्धान्त सार ७, ५, १)

मठरामर संहिता में इसी अवस्था के लिए कहा गया है कि इसमें मन, बुद्धि संवित् ,ऊहापोह, तर्क वितर्क सब कुछ शांत हो जाते हैं—

यत्र बुद्धिर्मनोनास्ति सत्ता संवित् पराकला।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम्॥

और बौद्ध साधक सरहपाद ने इसी अवस्था के लिये कहा है—इस अवस्था में मन और प्राण उपशमित हो जाते हैं। इड़ा और पिंगला की गति रुक जाती है, न इसमें आदि अंत का सवाल रहता है, न जन्म मरण का भय और न अपने पराए का ज्ञान; यही परम महासुख है—

जहि मन पवन न संचरइ रवि शशि णाहि पवेश ,
तहि वट चित्त विशाम करु सरहे कहिय उवेश।
आइ न अंत न मज्झणउ, णउ भव णउ णिव्वाण,
एहु सो परम महासुह, णउ पर णउ अप्पाण।

जैन साधकों के शास्त्रों में परमात्मा का वही अर्थ नहीं है, जो शैव या अन्य वैदिक मतानुयायी साधकों के ग्रंथों में प्रकट है। जैन साधक अगणित आत्माओं में विश्वास करते हैं। ये आत्मा मुक्त होने के बाद परमात्मा हो जाते हैं। परमात्मा अगणित हैं, परन्तु उनके गुण एक से हैं, इसलिये वे 'एक' कहे जा सकते हैं। यह पद ज्ञान से प्राप्त होता है और ज्ञान का साधन चित्त शुद्धि है। वस्तुतः चित्त-शुद्धि के बिना मोक्ष नहीं हो सकता। चाहे जीव जितने तीर्थों में नहाता फिरे और जितनी तपस्या करता फिरे, मोक्ष तभी होगा जब चित्त शुद्ध हो। जोइन्दु कहते हैं—

जहिं भावइ तहिं जाइ जिय, जं भावइ करि तंजि।
केम्वइ मोक्खु ण अत्थि पर, चित्तइ शुद्धि णं जं जि।
(परमात्मप्रकाश २, ७०)

—हे जीव, जहां खुशी हो जाओ और जो मर्जी हो करो, किन्तु जब तक चित्त शुद्ध नहीं होता तब तक मोक्ष नहीं मिलेगा। दान करने से भोग मिल सकता है, तप करने से इन्द्रासन भी मिल सकता है, पर जन्म और मरण से विवर्जित पद पाना चाहते हो तो ज्ञान ही से हो सकता है—

दाणि लब्भइ भोउ पर इन्दत्तणु वि तवेण।
जम्मण मरण विवज्जिउ, पउलब्भइ णाणेण।
(प० प्र० २, ७२)

जब यह मोक्ष प्राप्त हो जाएगा तो जीव ही परमात्मा हो जाएगा। इस मत से शैव-शाक्त आदि साधकों के तत्त्ववाद से मौलिक अंतर है। परन्तु व्यवहार में विशेष अंतर नहीं पड़ता। शाक्त साधक भी यही कहता है कि यह जीव ही शिव है; क्योंकि जब तक शिव नाना मलों से प्रच्छन्न है, तभी तक वह शरीर के कंचुक में आबद्ध है। इस कंचुक से मुक्त होते ही जीव शिव हो जाता है। इसीलिये 'परशुरामकल्पसूत्र' में कहा गया है—

शरीरकंचुकितः शिवो जीवः निष्कंचुकः परम शिवः।
(परशुराम कल्प १, ५)

ज्ञान से ही यह कंचुक दूर होता है और वह सामरस्य भाव प्राप्त होता है जिसमें समस्त इन्द्रिय और इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं और आत्मा आकाश की भाँति—शून्य की भांति अपने आप ही में रम जाता है। यही स्वसंवेदन रस है। इसमें पाप और पुण्य का विलय हो जाता है। उस अवस्था में साधक शिव रूप हो जाता है। उस समय जैसा कि अवधूत गीता में बताया गया है, साधक 'ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम्' हो जाता है। यह शून्य रूप साधना या निर्विकल्पक समाधि जिसमें आत्मा के अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता और समस्त प्रकार के भोक्तृ-भोग्य अनुभवों से स्वतंत्र एक स्वसंवेदन—अपने ही अपने को जानने का—रस अनुभूत होता है, उस युग के साधकों में समान रूप से पाया जाता है। जोइन्दु ने उल्लासपूर्वक कहा है—बलिहारी है उस योगी की जो 'शून्य पद' का ध्यान करता है, जो 'पर'—

परमपुरुष परमात्मा—के साथ समरसीभाव का अनुभव करता है, जो पाप और पुण्य से अतीत हो जाता है—

> सुण्णउँ पउँ झायंताहँ बलि बलि जोइयडाहँ।
> समरसि भाउ परेण सहु पुण्णु वि पाउ ण जाहँ।
>
> (प० प्र० २, १५९)

ब्रह्मदेव ने अपनी वृत्ति में 'पर' शब्द का अर्थ 'सर्वविद परमात्मा' किया है। जोइन्दु पाप और पुण्य से अतीत उस महायोगी पर बार बार बलि जाते हैं, जो उजाड़ को बसाता है, और बस्ती को शून्य करता है—

> उव्वस वसिया जो करइ वसिया करइ जु सुण्णु।
> बलि किज्जउँ तसु जोइयहिं, जासु ण पाउ ण पुण्णु॥

गुरु गोरखनाथ ने भी कुछ इसी स्वर में उस महायोगी की वंदना की थी, जिसने बस्ती को उजाड़ किया, और उजाड़ को बस्ती बनाया है—जो धर्म और अधर्म से परे है, पाप और पुण्य से अतीत है। काम क्रोध आदि विकारों की रंगस्थली यह काया ही सांसारिक दृष्टि से बस्ती है। इसे छोड़कर जब योगी का चित्त उस शून्य निरंजन स्थान पर पहुँचता है जहां समस्त इन्द्रियार्थ तिरोहित हो जाते हैं तो योगी वस्तुतः उजाड़ को बसाता है—

> कामक्रोध विकारभारभरितं विश्वं जहात्यात्मना,
> शून्ये व्योम्नि निरंजने च नियतं चित्तं दधात्यादरात्।
> इत्थं शून्यमशून्यता नयति यो पूर्णं च सच्छून्यताम्,
> धर्माधर्मविवर्जितं तमनिशं वंदे परं योगिनम्॥

वस्तुतः जैन साधक जब कहता है कि यह जीव ही परमात्मा है शरीर में ही उसका वास है, यह केवल जड़ है जो शास्त्रों को पढ़ता हुआ भी इस बात को नहीं समझ सकता, तो शैव या वैष्णव साधकों की ही भाषा में बोलता है—

> सत्थु पढंतु वि होइ जडु, जो ण हणेइ वियप्पु।
> देहि वसन्तु वि णिम्मलउ, णवि मण्णइ परमप्पु॥

परिणाम में यह मुक्त आत्मा बहुत-से परमात्माओं में से एक होकर रहेगा या किसी एक ही परमात्मा में मिल जाएगा, यह साधारण जनता के लिये विशेष महत्त्व नहीं रखता। साधारण जनता मुक्ति तक की बात सोचती है। सो उस युग के सभी साधक नाना मार्गों से चलकर एक ही परम सत्य तक पहुँचे थे। वह परम सत्य यह है कि यह शरीर ही परमात्मा का आवास है, देवता कहीं बाहर नहीं है, विविध भाव से विषयीभूत तत्त्वों का सामरस्य ही वह स्वसंवेदन रस है जिसके अनुभव से बढ़कर आनंद दूसरा नहीं है। आत्मा इसी स्वसंवेदन रस का अनुभव करके अपने-परम-प्राप्तव्य को पा जाता है। यह जो चेला चेलियों का ठाट-बाट है, पोथियों का ढूह है, इनके चक्कर में पड़ा हुआ जीव—निस्संदेह प्रसन्न होता है; परन्तु यह मोह है, परमपद का अन्तराय है। जो ज्ञानी है वह इनसे लज्जित होता है—

चेल्ला चेल्ली पुत्थियहिं,
 तूसइ मूढु णिभन्तु।
एवहिं लज्जइ णाणियउ,
 बंधह हेउ मुणन्तु॥

(प० प्र० २।८८)

श्री रामचन्द्र जैन शास्त्रमाला में परमात्मप्रकाश और योगसार सुप्रसिद्ध विद्वान नेमिनाथ आदिनाथ उपाध्याय द्वारा संपादित होकर निकले हैं। दोनों ही ग्रंथ जोइन्दु के लिखे हुए हैं। प्रो० हीरालाल जी जैन ने इसके पूर्व ही रामसिंह के पाहुड दोहों का प्रकाशन किया है।

१०. धर्मशास्त्र और धर्म-साधना

मध्ययुग के धार्मिक साहित्य को दो प्रकार से विभक्त करके विचार किया जा सकता है। स्मृतियों, उनकी टीकाओं, पुराणों और निबंधों का साहित्य पुराने ज़माने से ही 'धर्मशास्त्र' कहा जाता रहा है। फिर एक दूसरे प्रकार का साहित्य है जो साधकों के परम पुरुषार्थ प्राप्ति की प्रक्रियाओं को बताते हैं। इनमें तन्त्र हैं, योग के ग्रन्थ हैं, भक्ति की पुस्तकें हैं और पुराणों के वे अंश हैं जो इन्हीं बातों की चर्चा करते हैं। मैंने सुविधा के लिये इस प्रकार के साहित्य का नाम 'धर्म-साधना' का साहित्य रख लिया है। यद्यपि यह नाम सुभीते के लिये ही रखा गया है पर यह बहुत दूर तक सार्थक भी है क्योंकि इस श्रेणी का साहित्य व्यक्ति की साधना का ही सहायक है। धर्मशास्त्र सामाजिक आचार-विचारों और विधि-निषेधों की व्यवस्था करते हैं, वर्णों और आश्रमों के सामान्य और विशेष कर्तव्यों का निर्देश देते हैं, अन्तर्वैयक्तिक संबंधों के कर्तव्य द्वन्द्व की मीमांसा करते हैं जबकि धर्मसाधना-वाले ग्रंथ साधक के प्रतिपाल्य नियमों और अनुष्ठानों का विधान करते हैं, साधना के विविध स्तरों में कैसे अनुभव होते हैं और उनसे साधना-मार्ग में अग्रसर होने के या पिछड़ जाने के कौन से लक्षण प्रकट होते हैं, इसकी विवेचना करते हैं। कभी-कभी धर्मशास्त्र और धर्म-साधना-साहित्य एक दूसरे से इस प्रकार उलझे हुए मिलते हैं कि उनको अलग करना कठिन होता है। पर साधारणतः मध्य-युग का गृहस्थ हिन्दू धर्मशास्त्रीय मार्ग का अनुसरण करता था और विशेष-विशेष मार्ग के साधक तत्तत् संप्रदाय या मार्ग के साधना-ग्रंथों के निर्देश पर चलते थे। साधारण गृहस्थ विविध तीर्थों में स्नान करने से पुण्यार्जन होने में विश्वास करते थे, वर्णाश्रम व्यवस्था में आस्था रखते थे, व्रतों और उपवासों में विश्वास पोषण करते थे स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, कर्मफल, पितृश्राद्ध आदि में पूर्णश्रद्धा रखते थे और मंगलकामना से सभी देवताओं और अपदेवताओं

की पूजा किया करते थे। इस तीर्थ व्रत-उपवास प्रधान, जाति-वर्ण विश्वासी, सर्वदेवोपासक मत को एक शब्द में 'स्मार्त मत' कहते हैं। स्मार्तमत अर्थात् स्मृति-निर्दिष्ट धर्म-व्यवस्था को पालन करने में कल्याण मानने वाला मत। इस प्रकार का मत कोई नई बात नहीं है। महाभारत काल में भी गृहस्थों का जो वर्णन है उससे कुछ इसी प्रकार के गृहस्थों का पता चलता है। महाभारत में भागवतों के परम उपास्य श्रीकृष्ण भी शंकर की स्तुति करते बताए गए हैं। फिर भी इन दिनों का प्रचलित विश्वास यह है कि इस स्मार्त मत की पुनः प्रतिष्ठा शंकराचार्य ने की थी। उन्होंने ही पञ्चदेवोपासना की पद्धति चलाई। जो हो, स्मार्त मत का सीधा अर्थ है स्मृतियों की व्यवस्था को मानने वाला मत। पुराण और महाभारत को भी स्मृतियों में गिना गया है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि स्मृति और पुराण मुख्यतः गृहस्थों के सामाजिक और अन्तर्वैयक्तिक संबंधों और कर्तव्यों के प्रतिपादक शास्त्र हैं इन्हीं को 'धर्म शास्त्र' कहते हैं।

धर्म-साधनाओं को भी दो मोटे विभागों में बाँट लिया जा सकता है—योगमूलक-साधनाएं और भक्ति-मूलक साधनाएं। प्रथम श्रेणी की साधना में साधक का विश्वास अपने ऊपर होता है। इस शरीर को ही नाना भाव से आसन-प्राणायाम आदि के द्वारा संयत करके मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किया जाता है। यह विश्वास किया जाता है कि परम प्राप्तव्य वस्तुतः इस शरीर से बाहर नहीं है। वह इसी में व्याप्त है। भक्तिमूलक साधना इससे भिन्न वस्तु है। ऐसा तो उसके अनुयायी भी मानते हैं कि परम प्राप्तव्य शरीर के भीतर ही है पर इस बात पर वे बहुत अधिक जोर नहीं देते। भक्तिमूलक साधना का साधक वस्तुतः अपने आप पर कम और अपने परमाराध्य प्रेममय परमात्मा पर अधिक विश्वास करता है। अपने आपको अत्यन्त तुच्छ समझकर परम प्रेममय भगवान् को संपूर्ण रूप से आत्म समर्पण भक्ति की पहली शर्त है। अपने को निःशेष भाव से भगवान् के चरणों में उत्सर्ग कर देने का नाम ही भक्ति है। राजनीति की परिभाषा में समझना चाहे तो योगमार्ग गणतांत्रिक धारणा की उपज है और भक्ति-मार्ग साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की

देन है। भारतवर्ष में इन दोनों साधनाओं के बीच बहुत पुराने हैं पर मध्ययुग में वे कुछ विशेष हो गए हैं। क्या और कितना विशेष हुए हैं, यही विचार्य है।

पहले योगमूलक साधना की बात ली जाय भक्तिमूलक साधनाओं की चर्चा हम थोड़ा रुककर करेंगे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इस मनुष्य शरीर में—जो परम रहस्य का आगार है—कुछ अत्यन्त अद्भुत शक्तिशाली बातें हैं। बहुत पुराने ज़माने से चार वस्तुएं बहुत शक्तिशाली मानी जाती रही हैं—मन, प्राण, बिन्दु (शुक्र) और वाक्। मध्ययुग में कुण्डलिनी एक पांचवीं वस्तु है जो अत्यन्त शक्तिशाली तत्त्व स्वीकार की गई है। इस प्रकार इस शरीर में ये पांच बातें अनन्त शक्ति का स्रोत मानी गई हैं। इनमें से किसी एक पर भी यदि साधक अधिकार जमा ले तो बाकी सब अनायास वश में आ जाते हैं। इन्हींमें से किसी एक को अधिक और बाकी को कम महत्त्व देने के कारण विभिन्न योगमार्ग बने हैं। मन को वश में करने को प्रधान कर्तव्य बताने वाला योग राजयोग कहा जाता है, प्राण को प्रधान रूप से संयत करने को कर्तव्य प्रतिपादित करने वाला योग हठयोग कहलाता है, वाक् को संयत करने की विधि पर ज़ोर देना वाला योग मंत्रयोग और जपयोग कहा जाता है, कुण्डलिनी को उद्बुद्ध करने को ही प्रधान कर्तव्य समझने वाला योग कुण्डली योग कहलाता है। शुक्र को संयत और विनियुक्त करने के अनेक मार्ग हैं जो विभिन्न प्रक्रियाओं के कारण विभिन्न नाम ग्रहण करते हैं। वज्रयानी और ऊर्ध्वरेता साधक इस महाशक्ति के विनियोग और संयम की विशेष विधियों पर ज़ोर देते हैं। इस प्रकार यह मार्ग इस शरीर के भीतर ही परम सिद्धि का संधान खोजता है।

इस प्रकार की साधना का सबसे प्रथम आरंभ कब हुआ यह कह सकना बड़ा कठिन है। न तो यह मध्ययुग की अपनी विशेषता है और न वैदिक परम्परा की। बौद्ध और जैन जैसे वैदिक धर्म के विरोधी सम्प्रदायों में भी इसका मान है पाशुपत और वाममार्ग जैसे वैदिकेतर सम्प्रदायों में भी यह योग पद्धति गृहीत हुई है। मोहन-जो-दड़ो में ऐसी मूर्तियाँ मिली हैं

जिनके ध्यान स्तिमित नयन मुद्रा को देखकर पंडितों ने अनुमान किया है कि वहाँ की सभ्यता में—जो सम्भवतः आर्येतर सभ्यता थी—यह साधना अवश्य प्रचलित थी। योगमार्ग की ऊपर लिखी विशेषता को यदि ध्यान में रखकर विचार किया जाय तो मूल संहिताओं के धर्म से—जिसे कभी-कभी बहुदेव वाद कहा गया है,—यह बहुत भिन्न वस्तु है। मूल वैदिक संहिताओं का प्रधान धर्म इस शरीर के भीतर परम प्राप्तव्य को प्राप्त करने पर अधिक ज़ोर नहीं देता। एक बार सरसरी निगाह से इस प्रधान धर्म को देखने का प्रयत्न कर लेना उचित होगा।

---

११. वैदिक देवतावाद से इस साधना का अन्तर

वेदों में प्रतिपादित धर्म का स्वरूप क्या है ? उसमें कितने ही लोगों ने अद्वैतवाद, कितनों ही ने एकेश्वरवाद और कितनों ही ने बहुदेववाद का संधान पाया। असल में समूचे वैदिक साहित्य में कोई एक ही धार्मिक वा तत्त्व-ज्ञानात्मक एकरूपता नहीं है। यहाँ तक कि ऋग्वेद के १०१७ सूक्तों में भी किसी एक सामान्य मत का संधान पाना दुष्कर है। इन सूक्तों में अनेक ऋषियों के अनेक प्रकार के विचार ग्रथित हैं। ऐसे भी स्थान हैं जहाँ स्पष्ट रूप से एकेश्वरवाद की दृढ़कंठ से घोषणा की गई है। बताया गया है कि एक ही महादेवता को ऋषियों ने नाना नाम से—अग्नि, यम, मातरिश्वा आदि कह कर—नाना भाव से बताया है (ऋग् १.१६४-४६) फिर कहा गया है कि आरंभ में समस्त भूतों का अधिपति एक मात्र हिरण्य गर्भ ही था, उसीने द्युलोक और भूलोक को धारण किया है और कौन दूसरा देवता है जिसे हम हविम् अर्पित करें (ऋग् १०-१२१)। इन तथा ऐसे ही मन्त्रों में बड़ी दृढ़ता के साथ एक महादेवता की उपासना ही पर जोर दिया गया है पर इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे मंत्र कम हैं। अधिकांश मंत्रों में अनेक देवताओं का उल्लेख मिलता है। साधारणतः देवताओं की संख्या तैंतीस बताई गई है। इनमें ग्यारह आकाश के ग्यारह पृथिवी के और ग्यारह जल के देवता कहे गए हैं (ऋग् १. १३६. ११)। इन देवताओं की पत्नियों की भी चर्चा मिल जाती है (३. ६. ६.)। वैतान सूत्र (१५-३) में अग्नि की पत्नी पृथ्वी (पृथिवी), वात की वाक्, इन्द्र की सेवा बृहस्पति की धेना, पूषन् की पथ्या, वसु की गायत्री, रुद्र की त्रिष्टुभ्, आदित्य की जगती, मित्र की अनुष्टुभ्, वरुण की विराज्, विष्णु की पंक्ति और सोम की दीक्षा ये देवपत्नियाँ बताई गई हैं। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि इनमें रूपकीय कल्पना स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है पर जो लोग मानते हैं कि तांत्रिक शक्ति कल्पना भारतीय धर्म-साधना में नई

चीज़ है उनके विचार के लिये इनमें प्रचुर सामग्री भी है। ऐसा जान पड़ता है कि ३३ देवताओं में सभी वैदिक देवता सम्मिलित नहीं हैं, क्योंकि अग्नि, सोम, मरुत्, अश्विनौ, आपः, उषा, सूर्य आदि देवताओं का पृथक् उल्लेख भी है और कभी-कभी तो वैदिक कवि उल्लास की अवस्था में अत्युक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। वह तैंतीस देवताओं से सन्तुष्ट न होकर कहता है कि देवताओं की संख्या ३३३६ है ऋग् ३. ३. ६)। यह सब देखते हुए यही कहना पड़ता है कि वेदों में बहुदेववाद ही प्रधान धर्म है।[1]

बहुदेववाद का मतलब क्या है? यह शब्द अंग्रेजी के पालियीज़्म शब्द के तौल पर गढ लिया गया है। अंग्रेजी में पालिथीज़्म शब्द का अर्थ निश्चित हो गया है। इस शब्द से एक ऐसे देवता-विधान का बोध होता है जिसमें बहुत से छोटे-बड़े देवता, जिनका पदगौरव और मर्यादा तथा छोटा-बड़ा भाव निश्चित हो चुका रहता है, एक महादेवता के अधीन होते हैं। ग्रीस का बहुदेवता-विधान ऐसा ही है। इसका बड़ा देवता जियस या जूपिटर है। मैक्समूलर ने बताया है कि इस ग्रीक विधान से वैदिक विधान का कोई साम्य नहीं है। केवल ग्रीक या रोमन देवता-विधान ही नहीं, वैदिक बहुदेववाद उराल-अल्ताई, या अमेरिकन आदिम अधिवासियों या अफ्रिकन आदिम अधिवासियो के देवता विधान से भिन्न है।[2] इस विधान का जो देवता जब उपासित होता है वही उस समय सबसे बड़ा देवता है। इन्द्र की उपासना के समय इन्द्र, अग्नि की उपासना के समय अग्नि और वरुण की उपासना के समय वरुण ही महादेवता है। यह एक प्रकार स्वतंत्र देवताओं का संघ है जब कि ग्रीक और रोमन पालिथीज़्म एक बड़े सम्राट् के अन्तर्गत नाना मर्यादाओं के अधिकारी देवताओं का एक दरबार है। दोनों में बड़ा अन्तर है। मैक्समूलर ने इसीलिये पालिथीज़्म शब्द को भ्रामक बताया था और वैदिक बहुदेववाद के लिये एक नये शब्द के प्रयोग का सुझाव रखा था—यह शब्द

---

१. दे०. मैक्समूलर : ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १४३-१४५

२. ह्वाट कैन इण्डिया टीच अस, पृ० १४५-४६

नहीं कहा जा सकता।

वस्तुतः वैदिक ऋषि प्रकृति के प्रत्येक तेजोमय रूप में एक प्रकार की देवत्वबुद्धि रखते हैं। यह जो कुछ चर्म-चक्षुओं से दिख रहा है यही चरम और परम नहीं है। इसके पीछे कुछ और है जो इसे तेज दे रहा है। नदी में जो प्रवाह-वेग है वह वहीं तक सीमित नहीं है, इस प्रवाह-वेग को वेगवती करने वाली कोई शक्ति है। सूर्य को सूर्यता देने वाला कोई अदृष्ट तेजोधर्मा —देव— है। 'देव' वस्तुतः उस तेज और चमक देने वाले विशेषण का ही बोधक है। पश्चिमी साहित्य में बहुवचन में प्रयोग किए जाने वाले 'गॉड' का निश्चित अर्थ है। वह रूढ़ हो गया है। परन्तु वैदिक ऋषि देव शब्द का प्रयोग इस प्रकार के किसी रूढ़ अर्थ में नहीं करता। वह प्रकृति के तेजोद्दप्त रूप से उल्लसित होता है और अपने उल्लास को किसी प्रकार की पूर्व-निर्धारित कल्पना से बाधित नहीं होने देता। वैदिक देवता विधान को बहुदेववाद नहीं कहा जा सकता, यह तो पश्चिमी पंडितों ने ही कहा है पर उससे एक व्यापक शक्तिदात्री सत्ता का बोध होता है यह बात न जाने क्यों नहीं स्वीकार की जाती। आखिर प्रत्येक देवता का महादेवता मान लिया जाना तभी तो संभव है जब देवता-

१. वही, पृ० १४७

देवता में भेद-बुद्धि का कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में अभाव होता है। कहीं-न-कहीं वैदिक मंत्र-द्रष्टा के चित्त में यह बात स्पष्ट थी कि यह जो कुछ तेजोमय दिख रहा है वह किसी एक ही महासत्ता की शक्ति से शक्तिमान् होने के कारण कोई देवता बड़ा नहीं है, कोई देवता छोटा नहीं है, किसी की मर्यादा नीचे नहीं है। साक्षात्कार के समय जिसने भी साधक के चित्त में उल्लास का संचार किया वही बड़ा देवता है क्योंकि अन्ततोगत्वा सभी तो एक ही परम देवता के रूप हैं। विद्वान् लोग उस एक को ही अनेकानेक नाम देकर बताते हैं:—एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति। वस्तुतः यदि इस प्रकार का कोई भाव ऋषियों के चित्त में न होता तो इस प्रकार के देवता-विधान की कल्पना भी संभव नहीं थी। हैनोथीज्म नाम दे देने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता, उस मनोवृत्ति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे ऐसे देवता-विधान की कल्पना उद्भूत हो सकती है और ऊपर हमने जो-कुछ कहा है उससे भिन्न और क्या समाधान खोजा जा सकता है?

प्रकृत यह है कि वैदिक ऋषि यद्यपि एक प्रकार अद्वैत तत्त्व या 'एक' तत्त्व को स्वीकार करते हैं परन्तु उनका जोर बाह्य जगत् में व्याप्त अनन्त शक्ति-स्रोतों की ओर है जिन्हें वे देवता कहते हैं। इसी समय जब कि ये मंत्र लिखे जा रहे थे योग मार्ग भी अवश्य जीवित था जो इस मानव शरीर को ही समस्त शक्तियों का मूल उत्स मानता था। परवर्ती काल में उपनिषदों में यह विचार प्रधान होने लगा था कि सभी वैदिक देवता वस्तुतः मानव-शरीर के विविध इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। इस प्रकार उपनिषदों के युग में योग मार्ग धीरे-धीरे प्रधान भारतीय विचार का रूप धारण करता जा रहा था। ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक देववाद और योगमार्ग दो प्रकार की असमान परिस्थितियो में विकसित हुए थे और अन्त में एक दूसरे को प्रभावित करने में समर्थ हुए थे। योगमार्ग प्रधान रूप से गणतान्त्रिक व्यवस्था, वैराग्यवादी तत्त्वज्ञान और व्यक्तित्व प्रधान दृष्टि की उपज है जब कि बहुदेववाद ऐसे समाज में सम्भव है जिसे विजय पर विजय प्राप्त करने के कारण जीवन उल्लासमय दीख रहा हो, जिसमें तेजस्विता पूरी मात्रा में हो और साथ ही जिसमें

शिशु-जनोचित औत्सुक्य हो। क्रमशः इसमें सामन्ती मनोवृत्ति के चिह्न स्पष्ट से स्पष्टतर होते जाते हैं और विरोधी का उच्छेद काफी महत्त्वपूर्ण स्वर हो जाता है।

परन्तु हमारे आलोच्यकाल से इन बातों का बहुत दूर का संबंध है। केवल मूल स्वर को अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही यहाँ इस प्रसंग की कुछ विस्तृत अवतारणा की गई है। महाभारत काल में योगसाधना सुसंकृत भारतीय विचारधारा का प्रधान अंग हो गई थी और इस बात का निश्चित प्रमाण है कि बुद्ध-युग के साधकों का यह अति मान्य मत था।

बाद अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में रचा गया था। क्षणिक विज्ञानवादियों का प्रमुख सूत्रग्रन्थ 'लंकावतारसूत्र' है, जिसमें नागार्जुन की चर्चा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'लंकावतार सूत्र' से भी नागार्जुन का समय पुराना है।[1] इस प्रकार पतञ्जलि को तीसरी शताब्दी में घसीटना बहुत अधिक युक्तिसंगत नहीं है; फिर भी इस मत का यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझा गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी किसी-किसी पंडित ने तीनों पतञ्जलियों की अभिन्नता में सन्देह प्रकट किया है।

जो हो, पतञ्जलि नामक आचार्य ने सन् ईस्वी के आरम्भ होने के कुछ इधर-उधर योगसूत्रों की रचना की थी। ये सूत्र योग-मार्ग के क्रमबद्ध तत्त्ववाद और साधना-मार्ग का बहुत ही सुन्दर परिचय देते हैं। जो कार्य आचार्य रामानुज ने भक्ति के आधारभूत सिद्धान्तों के लिए कोई हज़ार-सवा-हज़ार वर्ष बाद किया, वही योग के लिये पतञ्जलि ने किया। इसके पूर्व यह मतवाद साधन-प्रक्रिया के रूप में विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित था। वह धर्म-साधना अधिक और क्रमबद्ध दर्शन कम था। संभवतः सांख्य भी ईश्वर कृष्ण के पहले इसी प्रकार नाना धर्म-ग्रन्थों और आख्यान-ग्रंथों में बिखरा पड़ा था। धर्म-साधना को क्रमबद्ध दर्शन का रूप इस देश में आज से कोई दो हज़ार वर्ष पहले मिलने लगा था। ऐसा क्यों हुआ? कुछ ऐसे सामाजिक और अन्य कारण अवश्य रहे, जिनके फल-स्वरूप धर्म-साधना क्रमबद्ध दर्शन का रूप बन गई, या दूसरे शब्दों में कहें, तो साधारण जीवन से छनकर उपरले स्तर के बुद्धिवृत्तिक लोगों की चीज़ बन गई। सामाजिक विचारों में कुछ ऐसा मंथन

---

[1] दक्षिणापथ वेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत् पक्षकारकः।
प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तरं
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्।

(लंकावतारसूत्र, पृष्ठ २८६)

ज़रूर हुआ कि तत्त्ववाद का मक्खन ऊपर उठ गया। जो तत्त्ववाद सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त था, वह केवल बौद्धिक विवेचना का विषय बन गया। यह कोई नई बात नहीं है। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक भक्ति के तत्त्ववाद का नवनीत इसी प्रकार ऊपर उठता रहा और विविध भक्ति-सम्प्रदायों की धर्म-साधना के मेरुदण्ड-रूप तत्त्ववाद क्रमबद्ध दर्शन का रूप धारण करते रहे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कबीर-पंथियों ने भी अपने महान् गुरु की शिक्षाओं को क्रमबद्ध दर्शन का रूप देना चाहा। गोस्वामी तुलसीदास का अत्यन्त मनोमुग्धकर काव्य भी परवर्ती काल में क्रमबद्ध दर्शन पाने का प्रयासी हुआ; पर लोक-चित्त से वह इतना उलझा हुआ था कि उसका तत्त्ववाद का प्रयास बहुत सफल नहीं हो सका। महाप्रभु चैतन्यदेव के तिरोधान के बहुत थोड़े अर्से में ही उनका सम्प्रदाय 'अचिन्त्य भेदाभेद' नामक अभिनव दर्शन का अधिकारी हुआ। कहते हैं कि वृन्दावन के वैष्णव पंडितों की किसी सभा में जब ललकारा गया कि चैतन्य-मत का कोई अपना वाद या भाष्य हो, तो बताओ, तो बलदेव विद्याभूषण ने एक दिन की मुहलत लेकर रातों रात भाष्य तैयार कर दिया। इस कहानी से इतना तो पता चल ही जाता है कि इस प्रकार का प्रयत्न बुद्धिजीवियों और अभिजात लोगों की स्वीकृति पाने के उद्देश्य से किया गया होता है।

धर्म-ग्रन्थों के आख्यानों से मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का संकलन करके जब क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया जाता है, तो उसके मूल में अभिजात-वर्ग का स्वीकृति-लाभ एक प्रधान कारण होता है। ऐसा जान पड़ता है कि ई० पू० की कुछ शताब्दियों में वैदिक और अवैदिक मतों का बड़ा घोर मंथन हुआ था और भिन्न-भिन्न साधन-मार्गों के अनुयायियों को अपने-अपने मत को क्रमबद्ध दर्शन का रूप देने की आवश्यकता पड़ी थी। विविध सूत्र ग्रंथों ने उस आवश्यकता की पूर्ति की। साथ ही ऊपर-ऊपर तत्त्ववाद के बौद्धिक विवेचन का विषय हो जाने पर भी कम बुद्धिवृत्तिक लोग तत्त्ववाद-विहित साधना-प्रणाली से या तत्त्ववाद के आख्यानात्मक धर्म-ग्रंथों से अपना काम चलाते रहे। विविध पुराणों में विभिन्न दर्शनों के रूप प्राप्त होते हैं—वैदिक

बाद अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में रचा गया था। क्षणिक विज्ञानवादियों का प्रमुख सूत्रग्रन्थ 'लंकावतारसूत्र' है, जिसमें नागार्जुन की चर्चा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'लंकावतार सूत्र' से भी नागार्जुन का समय पुराना है।[1] इस प्रकार पतञ्जलि को तीसरी शताब्दी में घसीटना बहुत अधिक युक्तिसंगत नहीं है; फिर भी इस मत का यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझा गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी किसी-किसी पंडित ने तीनों पतञ्जलियों की अभिन्नता में सन्देह प्रकट किया है।

जो हो, पतञ्जलि नामक आचार्य ने सन् ईस्वी के आरम्भ होने के कुछ इधर-उधर योगसूत्रों की रचना की थी। ये सूत्र योग-मार्ग के क्रमबद्ध तत्त्ववाद और साधना-मार्ग का बहुत ही सुन्दर परिचय देते हैं। जो कार्य आचार्य रामानुज ने भक्ति के आधारभूत सिद्धान्तों के लिए कोई हज़ार-सवा-हज़ार वर्ष बाद किया, वही योग के लिये पतञ्जलि ने किया। इसके पूर्व यह मतवाद साधन-प्रक्रिया के रूप में विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित था। वह धर्म-साधना अधिक और क्रमबद्ध दर्शन कम था। संभवतः सांख्य भी ईश्वर कृष्ण के पहले इसी प्रकार नाना धर्म-ग्रन्थों और आख्यान-ग्रंथों में बिखरा पड़ा था। धर्म-साधना को क्रमबद्ध दर्शन का रूप इस देश में आज से कोई दो हज़ार वर्ष पहले मिलने लगा था। ऐसा क्यों हुआ? कुछ ऐसे सामाजिक और अन्य कारण अवश्य रहे, जिनके फल-स्वरूप धर्म-साधना क्रमबद्ध दर्शन का रूप बन गई, या दूसरे शब्दों में कहें, तो साधारण जीवन से छनकर उपरले स्तर के बुद्धिवृत्तिक लोगों की चीज़ बन गई। सामाजिक विचारों में कुछ ऐसा मंथन

---

[1] दक्षिणापथ वेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत् पक्षकारकः।
प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तमं
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्।
(लंकावतारसूत्र, पृष्ठ २८६)

ज़रूर हुआ कि तत्त्ववाद का सम्मान ऊपर उठ गया। जो तत्त्ववाद सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त था, वह केवल बौद्धिक विवेचना का विषय बन गया। यह कोई नई बात नहीं है। ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक भक्ति के तत्त्ववाद का नवनीत इसी प्रकार ऊपर उठता रहा और विविध भक्ति-सम्प्रदायों की धर्म-साधना के मेरुदण्ड-रूप तत्त्ववाद क्रमबद्ध दर्शन का रूप धारण करते रहे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कबीर-पंथियों ने भी अपने महान् गुरु की शिक्षाओं को क्रमबद्ध दर्शन का रूप देना चाहा। गोस्वामी तुलसीदास का अत्यन्त मनोमुग्धकर काव्य भी परवर्ती काल में क्रमबद्ध दर्शन पाने का प्रयासी हुआ; पर लोक-चित्त में वह इतना उलझा हुआ था कि उसका तत्त्ववाद का प्रयास बहुत सफल नहीं हो सका। महाप्रभु चैतन्यदेव के तिरोधान के बहुत थोड़े अर्से में ही उनका सम्प्रदाय 'अचिन्त्य भेदाभेद' नामक अभिनव दर्शन का अधिकारी हुआ। कहते हैं कि वृन्दावन के वैष्णव पंडितों की किसी सभा में जब ललकारा गया कि चैतन्य-मत का कोई अपना वाद या भाष्य हो, तो बताओ, तो बलदेव विद्याभूषण ने एक दिन की मोहलत लेकर रातों रात भाष्य तैयार कर दिया। इस कहानी से इतना तो पता चल ही जाता है कि इस प्रकार का प्रयत्न बुद्धिजीवियों और अभिजात लोगों की स्वीकृति पाने के उद्देश्य से किया गया होता है।

धर्म-ग्रन्थों के आख्यानों से मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का संकलन करके जब क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया जाता है, तो उसके मूल में अभिजात-वर्ग का स्वीकृति-लाभ एक प्रधान कारण होता है। ऐसा जान पड़ता है कि ई० पू० की कुछ शताब्दियों में वैदिक और अवैदिक मतों का बड़ा घोर मंथन हुआ था और भिन्न-भिन्न साधन-मार्गों के अनुयायियों को अपने-अपने मत को क्रमबद्ध दर्शन का रूप देने की आवश्यकता पड़ी थी। विविध सूत्र ग्रंथों ने उस आवश्यकता की पूर्ति की। साथ ही ऊपर-ऊपर तत्त्ववाद के बौद्धिक विवेचन का विषय हो जाने पर भी कम बुद्धिवृत्तिक लोग तत्त्ववाद-विहित साधना-प्रणाली से या तत्त्ववाद के आख्यानात्मक धर्म-ग्रंथों से अपना काम चलाते रहे। विविध पुराणों में विभिन्न दर्शनों के रूप प्राप्त होते हैं—वैदिक

बाद अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में रचा गया था। क्षणिक विज्ञानवादियों का प्रमुख सूत्रग्रन्थ 'लंकावतारसूत्र' है, जिसमें नागार्जुन की चर्चा है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि 'लंकावतार सूत्र' से भी नागार्जुन का समय पुराना है।[1] इस प्रकार पतञ्जलि को तीसरी शताब्दी में घसीटना बहुत अधिक युक्तिसंगत नहीं है; फिर भी इस मत का यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझा गया है। विषय-वस्तु की दृष्टि से भी किसी-किसी पंडित ने तीनों पतञ्जलियों की अभिन्नता में सन्देह प्रकट किया है।

जो हो, पतञ्जलि नामक आचार्य ने सन् ईस्वी के आरम्भ होने के कुछ इधर-उधर योगसूत्रों की रचना की थी। ये सूत्र योग-मार्ग के क्रमबद्ध तत्त्ववाद और साधना-मार्ग का बहुत ही सुन्दर परिचय देते हैं। जो कार्य आचार्य रामानुज ने भक्ति के आधारभूत सिद्धान्तों के लिए कोई हज़ार-सवा-हज़ार वर्ष बाद किया, वही योग के लिये पतञ्जलि ने किया। इसके पूर्व यह मतवाद साधन-प्रक्रिया के रूप में विभिन्न सम्प्रदायों में प्रचलित था। वह धर्म-साधना अधिक और क्रमबद्ध दर्शन कम था। संभवतः सांख्य भी ईश्वर कृष्ण के पहले इसी प्रकार नाना धर्म-ग्रन्थों और आख्यान-ग्रंथों में बिखरा पड़ा था। धर्म-साधना को क्रमबद्ध दर्शन का रूप इस देश में आज से कोई दो हज़ार वर्ष पहले मिलने लगा था। ऐसा क्यों हुआ? कुछ ऐसे सामाजिक और अन्य कारण अवश्य रहे, जिनके फल-स्वरूप धर्म-साधना क्रमबद्ध दर्शन का रूप बन गई, या दूसरे शब्दों में कहें, तो साधारण जीवन से छनकर उपरले स्तर के बुद्धिवृत्तिक लोगों की चीज़ बन गई। सामाजिक विचारों में कुछ ऐसा मंथन

---

[1] दक्षिणापथ वेदल्यां भिक्षुः श्रीमान् महायशाः
नागाह्वयः स नाम्ना तु सदसत् पक्षकारकः।
प्रकाश्य लोके मद्यानं महायानमनुत्तम्
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम्।

(लंकावतारसूत्र, पृष्ठ २८६)

ज़रूर हुआ कि तत्त्ववाद का मक्खन ऊपर उठ गया। जो तत्त्ववाद सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त था, वह केवल बौद्धिक विवेचना का विषय बन गया। यह कोई नई बात नहीं है। ग्यारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक भक्ति के तत्त्ववाद का नवनीत इसी प्रकार ऊपर उठता रहा और विविध भक्ति-सम्प्रदायों की धर्म-साधना के मेरुदण्ड-रूप तत्त्ववाद क्रमबद्ध दर्शन का रूप धारण करते रहे। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में कबीर-पंथियों ने भी अपने महान् गुरु की शिक्षाओं को क्रमबद्ध दर्शन का रूप देना चाहा। गोस्वामी तुलसीदास का अत्यन्त मनोमुग्धकर काव्य भी परवर्ती काल में क्रमबद्ध दर्शन पाने का प्रयासी हुआ; पर लोक-चित्त से वह इतना उलझा हुआ था कि उनका तत्त्ववाद का प्रयास बहुत सफल नहीं हो सका। महाप्रभु चैतन्यदेव के तिरोधान के बहुत थोड़े अर्से में ही उनका सम्प्रदाय 'अचिन्त्य भेदाभेद' नामक अभिनव दर्शन का अधिकारी हुआ। कहते हैं कि वृन्दावन के वैष्णव पंडितों की किसी सभा में जब ललकारा गया कि चैतन्य-मत का कोई अपना वाद या भाष्य हो, तो बताओ, तो बलदेव विद्याभूषण ने एक दिन की मुहलत लेकर रातों रात भाष्य तैयार कर दिया। इस कहानी से इतना तो पता चल ही जाता है कि इस प्रकार का प्रयत्न बुद्धिजीवियों और अभिजात लोगों की स्वीकृति पाने के उद्देश्य से किया गया होता है।

धर्म-ग्रन्थों के आख्यानों से मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का संकलन करके जब क्रमबद्ध दर्शन का रूप दिया जाता है, तो उसके मूल में अभिजात-वर्ग का स्वीकृति-लाभ एक प्रधान कारण होता है। ऐसा जान पड़ता है कि ई० पू० की कुछ शताब्दियों में वैदिक और अवैदिक मतों का बड़ा घोर मंथन हुआ था और भिन्न-भिन्न साधन-मार्गों के अनुयायियों को अपने-अपने मत को क्रमबद्ध दर्शन का रूप देने की आवश्यकता पड़ी थी। विविध सूत्र ग्रंथों ने उस आवश्यकता की पूर्ति की। साथ ही ऊपर-ऊपर तत्त्ववाद के बौद्धिक विवेचन का विषय हो जाने पर भी कम बुद्धिवृत्तिक लोग तत्त्ववाद-विहित साधना-प्रणाली से या तत्त्ववाद के आख्यानात्मक धर्म-ग्रंथों से अपना काम चलाते रहे। विविध पुराणों में विभिन्न दर्शनों के रूप प्राप्त होते हैं—वैदिक

से बचने का उपाय है सही जानकारी—ठीक ज्ञान, सही जानकारी अर्थात् विवेकख्याति। जब जीव जान जाता है कि आत्मा क्या है और अनात्मा क्या है, चित् वस्तु क्या है और जड़ वस्तु क्या है, दुःख क्या है और दुःख से विरति क्या है, जब वह सत् और असत् का ठीक-ठीक विवेक करने लगता है, तभी अविद्या उच्छिन्न होती है। अविद्या के उच्छेद से दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। यही हेय-हान है। यही योग का चरम प्रतिपाद्य है और इसीका उपाय बताना शास्त्र का उद्देश्य है। हेय-हान का उपाय ही हानोपाय है। शास्त्र ने 'विवेकख्याति' के उपायों का विस्तृत विवेचन किया है। जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाती, तब तक विविध योगांगों का अनुष्ठान करना पड़ता है। योगांग आठ हैं—पाँच बहिरंग और तीन अन्तरंग। यम, नियम, आसन प्राणायाम और प्रत्याहार—ये पाँच बहिरंग हैं और ध्यान, धारणा और समाधि—ये तीन अन्तरंग हैं। इन्हीं आठों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होता है। समाधि सिद्ध होने से योगी चरम सिद्धि पा जाता है। योग ग्रंथों में इसके उपाय और महिमा दोनों की बहुत अधिक चर्चा है।

परन्तु मध्यकाल में लोक-भाषाओं में जो योग-संबंधी पुस्तकें लिखी गईं, उनमें हेय, हेय-हेतु, हेय-हान आदि की इतनी सूक्ष्म विवेचना नहीं की गई। मुश्किल से भूले-भटके इन शब्दों को स्मरण किया गया होगा। संस्कृत में भी इस काल में जो हठयोग की पुस्तकें लिखी गईं वे केवल प्रक्रिया ग्रंथ ही हैं। इनमें आसन, प्राणायाम आदि के अनेक भेदों और विधियों की प्रचुर चर्चा है, ध्यान-धारणा की भी चर्चा है; पर यह स्पष्ट नहीं बताया गया है कि इनसे विवेकख्याति किस प्रकार होती है और होने से अविद्या क्यों दूर हो जाती है। पातञ्जल-दर्शन विचार-प्रधान दर्शन-ग्रंथ है, जब कि मध्ययुग के हठयोगवाले ग्रंथ प्रक्रिया-प्रधान हैं। परन्तु ज्ञान-मार्ग का प्रभाव उन पर है। यदि उत्तर-मध्य-कालीन योग-ग्रंथों का विश्लेषण किया जाय, तो बाह्य योगांगों पर उनका ध्यान अधिक केन्द्रित मिलेगा। फिर इन पाँचों पर समान रूप से जोर नहीं मिलेगा। पातञ्जल दर्शन बाहरी और भीतरी इन्द्रियों के संयमन (वृत्ति-संकोचन) को 'यम' कहा है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना),

ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी से कुछ न लेना) ये पाँच 'यम' हैं। गोरखनाथ की लिखी बताई जानेवाली लोक-भाषा की पुस्तकों में किसी-न-किसी रूप में ये बातें आ जाती हैं, पर स्वर उनका नैतिक है। गोरखबानी में ब्रह्मचर्य, मधुर भाषण, संयम और सत्य की महिमा इस प्रकार बताई गई है :

"यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा।
गोरष कहै ते परतषि चूहड़ा॥
काछ का यती मुख का सती।
सो सत पुरुष उत्तमो कथी॥"

यद्यपि इनका स्वर नैतिक है, पर उन्हें योग-साधना का आवश्यक कर्त्तव्य माना गया है। ज्ञान-चर्चा अधिकतर 'कथनी-प्रधान' है। एक ही बात को कई प्रकार से घुमा-फिराकर, धक्कामार बनाकर, आकर्षक रूप देकर कहने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई है। ब्रह्मचर्य-पालन को स्त्री-वर्जन, स्त्री-निन्दा आदि का रूप मिला है। ब्रह्मचर्य का जीवन न बिता सकनेवाले को अत्यन्त कठोर भाषा में स्मरण किया गया है। आध्यात्मिक दृष्टि से उसे 'पखिया' (नर्म्सा, नपुंसक) तक कहा गया है और शिव और सती को भी इस लपेट में आ जाना पड़ा है। परवर्ती ग्रंथों में इस बात पर कुछ नहीं कहा गया कि 'ब्रह्मचर्य' क्यों कर्त्तव्य है, केवल उसकी महिमा का वर्णन कर दिया गया है और उसके न पालन करनेवालों की खबर ली गई है :

"गोरी तज्या न पखिया जीवै
पुरुष तज्याँ नहिं नारी।
कहै नाथ ये दोन्यूँ बिनसैं
घोड़ा की असवारी।"
"ऐसी गुरु गँडुया जोगेसुर ब्याल्या,
सिवसकी सूँ फेरा [illegible]।
[illegible] पद मिटाए पुरुष निर्लज्या,
[illegible] मन्दिर घर मेरा [illegible]।"

इसी प्रकार प्रत्येक 'यम' का रूप उत्तरोत्तर कथनी-प्रधान, [illegible]

आलोचना प्रवण और कभी-कभी खीझ से भरी गाली-गलौज के रूप में भी प्रकट हुआ है।

शास्त्र में इन यमों के विपरीत आचरण को 'वितर्क' कहा गया है। इसका फल दुःख और अज्ञान है। युक्तिपूर्वक बताया गया है कि क्यों यमों का पालन कर्त्तव्य है और क्यों वितर्कों से बचना आवश्यक है। इन वितर्कों के दमन और संयम की उपलब्धि के लिये शास्त्रकार ने पाँच प्रकार के नियम बताए हैं—शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर का ध्यान। परवर्त्ती लोक-भाषा के ग्रंथों में इन सबकी कुछ-न-कुछ चर्चा है, पर स्वर नैतिक है और भाषा में कभी-कभी इनके विरुद्ध आचरणवालों के प्रति क्रोध का स्वर भी मिल गया है। आसन और प्राणायाम मध्यकाल के योग-ग्रंथों में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान अधिकार करते हैं। आसन और प्राणायाम शरीर-साध्य हैं, परन्तु प्रत्याहार मानसिक है। शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध इन बाहरी पदार्थों से इन्द्रियों को हटाकर (प्रत्याहृत करके) पहले अन्तर्मुख करना पड़ता है। इस अवस्था में बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का कोई सम्पर्क नहीं होने से वे (इन्द्रियगण) चित्त का पूर्ण अनुकरण करते हैं। इसी अवस्था का नाम प्रत्याहार है। शास्त्र में इन पाँचों को बहिरंग साधन इसलिये बताया गया है कि इन पाँचों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—का कार्य-सिद्धि से बाहरी संबंध है। परन्तु धारणा, ध्यान और समाधि नामक योगांगों का कार्य-सिद्धि से साक्षात् संबंध है, इसलिये उन्हें अन्तरंग साधन कहा गया है। इन तीनों को एक ही नाम 'संयम' से भी अभिहित किया गया है। इनकी पारस्परिक एकता दिखाना ही इस एक नाम देने का उद्देश्य है। वस्तुतः जब ध्यान, धारणा और समाधि एक ही विषय का आश्रय करके होते हैं, तभी योगांग कहे जा सकते हैं। एक के ध्यान, दूसरे की धारणा और तीसरे की समाधि को योग नहीं कहा जा सकता। नाना विषयों में लगे हुए विक्षिप्त चित्त को किसी एक ही विषय पर केन्द्रित करने को धारणा कहते हैं; धारणा से जब चित्त कुछ स्थिर हो जाता है, तब ध्येय विषय की एकाकार चिन्ता होती है; और जब यह ध्यान निरन्तर अभ्यास के कारण स्वरूप-शून्य-सा होकर ध्येय विषय के

आकार के रूप में प्रतिभासित होता है, तो उसे समाधि कहा जाता है। शास्त्र ने सावधान कर दिया है कि यह अन्तरंग और बहिरंग भेद केवल सम्प्रज्ञात समाधि के लिये है, असम्प्रज्ञात समाधि के लिये तो सभी बहिरंग ही हैं।

ऐसा जान पड़ता है कि उत्तर-मध्य काल में इन योगांगों को लोक-भाषा में लिखने की परिपाटी दीर्घकाल से चली आती हुई परम्परा का अन्तिम रूप है। यह परम्परा लोक-भाषा में थी और लोकहित ही उसका प्रधान लक्ष्य था। धीरे-धीरे उसका नैतिक स्वर ही प्रबल होता गया और साधनात्मक रूप मद्धिम पड़ता गया। निर्गुणियों और निरंजनियों की बाखियों में इनका यही नैतिक रूप बचा रह गया है। मध्यकाल के साहित्य के विश्लेषण से इस नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि जहाँ सन्त-साहित्य में प्रधान रूप से यह नैतिकता-प्रधान स्वर ही जीवित रह सका, वहाँ विशुद्ध योगमार्गियों ने प्रक्रिया वाले रूप को ही कसकर पकड़ रखा। साहित्य में वह कम आया, पर साहित्य को निरन्तर प्रभावित करता रहा। उधर विवेकख्याति पर जोर देने वाले सम्प्रदायों ने उसके ज्ञानमूलक अंश को ही कसकर पकड़ा। इस प्रकार एक तरफ तो प्रक्रिया-प्रधान योग-मार्ग साधना विधि से ही चिपटता गया और दूसरी ओर मानस-शुद्धि से विवेकख्याति प्राप्त करने को सब-कुछ माननेवाले अधिकाधिक 'कथनी'-प्रधान होते गए। 'कथनी' और 'करनी' ये दो मार्ग मध्यकाल में बहुत स्पष्ट हो गए। गोरखनाथ ने 'करनी' को दुःखलभ्य या दुहेली कहा है और 'कथनी' (करणि) को सुखलभ्य या सुहेली बताया है और जो लोग करनी पर ध्यान न देकर कथनी को ही सब-कुछ माने बैठे हैं, उन्हें यह कहकर उपहास का पात्र माना है कि जिस प्रकार सुग्गा पढ़ता-लिखता है, पर बिल्ली उसे धर दबाती है; उसी प्रकार कथनी वाले पंडित को माया धर दबाती है और उसकी पोथी हाथ में पड़ी ही रह जाती है :

> "कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि बिन थोथी।
> पढ्या गुंण्या सूवा बिलाई पाया, पंडित के हाथि रह गई पोथी॥"

कोई यह मानने को तैयार नहीं था कि वह केवल कथनी करता है। दोनों ने दोनों पर कसकर आघात किया है और दोनों में बार-बार सामंजस्य

१३. सहज और नाथ सिद्ध

हमने देखा है कि इस काल में वेद को अन्तिम और अविसंवादी प्रमाण मानने का आग्रह बहुत अधिक था। परन्तु उस काल की यही एकमात्र प्रवृत्ति नहीं थी। एक दूसरा स्वर वेद विरोधी भी था। छठीं-सातवीं शताब्दी के बाद यह वेद विरोधी स्वर अधिक स्पष्ट होकर प्रकट होता है। बौद्धों और जैनों में भी वेद-विरोधी स्वर पाया जाता है और वह काफी पुराना है। परन्तु यह नया स्वर कुछ भिन्न श्रेणी का है। इसमें सब व्यापक, सर्व शक्तिमान प्रभुसत्ता को अस्वीकार नहीं किया गया है। कभी-कभी तो इसमें अद्वैतवाद का स्वर बहुत स्पष्ट होकर प्रकट हुआ है। ज्यों-ज्यों शताब्दियाँ बीतती गई हैं त्यों-त्यों इस विरोध का स्वर केवल दृढ़ ही नहीं कठोर भी होता गया है। क्या यह आर्येत्तर जातियों की देन है? क्या यह उन जातियो के मनीषियों की प्रतिक्रिया थीं जो अब तक आर्यभाषा के माध्यम से नहीं कह सके थे। वाममार्गी तांत्रिक और योगी तो उल्टी और धक्कामार भाषा में कहने के अभ्यस्त हो गए थे। विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा घटी नहीं। ये लोग अधिकाधिक उत्साह के साथ सीधी बात को भी उलट के जटिल और गुथीली बनाकर और आक्रामक तथा धक्कामार बनाकर कहते गए। कहने का ढंग कुछ विचित्र-सा था। गोमांस भक्षण पाप है यह सर्वविदित बात है। वारुणी पीना बुरी बात है यह सभी जानते हैं, लेकिन हठयोगी यही कहेगा कि नित्य गोमांस भक्षण करना चाहिए और अमर वारुणी का पान करना चाहिए क्योंकि यही विष्णु का परमपद है और यही कुलीन का परम कर्त्तव्य है[1]। यह भाषा स्पष्ट ही आक्रामक और धक्कामार है।

[1] हठयोगप्रदीपिका (३-४६-४८)

और प्रकाश के बीच की संध्या की भांति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बनाई गई है। किन्तु ऐसे बहुत से विद्वान् हैं जो उक्त भाषा का यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पण्डित ने अनुमान भिड़ाया है कि इस शब्द का अर्थ सन्धि देश की भाषा है। सन्धि देश भी, इस पंडित के अनुमान के अनुसार, वह प्रदेश है जहाँ बिहार की पूर्वी सीमा और बंगाल की पश्चिमी सीमा मिलती है। यह अनुमान स्पष्ट ही निराधार है क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बंगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा से इसी भांति चले आ रहे हैं। महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह शब्द मूलतः 'सन्धा-भाषा' है, 'सन्ध्या-भाषा' नहीं। अर्थ अभिसन्धिसहित्य या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप 'सन्धा' शब्द को संस्कृत 'सन्धाय' (—अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्ध शास्त्र के किसी-किसी वचन ने सहजयान और वज्रयान में यह रूप धारण किया है। असल में, जैसा कि भट्टाचार्य महाशय ने सिद्ध कर दिया है, वेदों और उपनिषदों में से भी ऐसे उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं, जिनमें सन्धा भाषा जैसी भाषा के प्रयोग मिल जाते हैं परन्तु बौद्ध धर्म की अन्तिम यात्रा के समय यह शब्द और यह शैली अत्यधिक प्रचलित हो गई थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

लेकिन अन्त तक यह विरोध कुछ कार्यकर नहीं हुआ। राजनीतिक और अर्थनीतिक कारणों ने मूल समस्या को धर दबोचा। ब्राह्मण मत प्रबल होता गया और इस्लाम के आने के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलों के रूप में विभक्त हो गया तो किनारे पर पड़े हुए अनेक सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। अधिकांश लोग ब्राह्मण और वेद-प्रधान हिन्दू समाज में शामिल होने का प्रयत्न करने लगे। कुछ सम्प्रदाय मुसलमान भी हो गए। दसवीं-ग्यारहवीं सदी के बाद क्रमशः वेदबाह्य सम्प्रदायों की यह प्रवृत्ति बढ़ती गई कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवों ने भी ऐसा किया और शाक्तों ने भी। परन्तु कुछ मार्ग इतने वेद विरोधी थे कि उनका सामंजस्य किसी प्रकार इन मतों से नहीं हो सका; वे धीरे-धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग-मार्ग में ऐसे

अनेक मतों का संघटन किया। हमने ऊपर देखा है कि गुरु, गुरुभाई और गुरु-सतीर्थ कहे जाने वाले लोगों का मत भी उनका सम्प्रदाय माना जाने लगा है। जालन्धरनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रन्थों से उद्धरण देकर सिद्ध किया जा सकता है कि ये लोग वेदों की परवा करने वाले न थे। इन सब के शिष्य और अनुयायी, भारतीय धर्म-साधना के इस उथल-पुथल के युग में गोरक्षनाथ के नेतृत्व में संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विचार इतने अधिक विभ्रष्ट थे वे किसी प्रकार के योग-मार्ग का अंग बन ही नहीं सकते थे, उन्हें उन्होंने स्वीकार नहीं किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुराने थे। एकों सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जाएगा कि आज भी उन्हीं सम्प्रदाय में मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद में गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि गोरक्षनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिन्दू थे न मुसलमान। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में परिचित हुआ तो नाना कारणों से दो प्रतिद्वन्द्वी धर्म-साधनामूलक दलों में यह देश विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और वेदानुयायी शाक्त मार्ग थे, वे बृहत्तर ब्राह्मण-प्रधान हिन्दू-समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों में पाया होगा—(१) एक तो वे जो योगमार्ग के अनुयायी थे परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे, (२) दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे—शैवागमों के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्ष-सम्मत योगमार्ग के उतने नज़दीक नहीं थे। इनमें से जो लोग गोरक्ष-सम्मत मार्ग के निकट थे उन्हें उन्होंने ने योगमार्ग में स्वीकार कर लिया, बाक़ी को अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दोनों ही प्रकार के मार्गों से ऐसे बहुत से सम्प्रदाय आ गए जो गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे परन्तु बाद में उन्हें गोरक्षनाथी माना जाने लगा। धीरे-धीरे जब परम्पराएँ लुप्त हो गईं तो उन पुराने सम्प्रदायों के मूल प्रवर्तकों को भी गोरक्षनाथ का शिष्य समझा जाने

लगा। इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यर्थ का वाद समूचा स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गोरक्षनाथ के काल-निर्णय के प्रसंग में पंडितों ने रचा है। तथाकथित शिष्यों के काल के अनुसार वह कभी आठवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं तो कभी दसवीं के, कभी ग्यारहवीं के और कभी-कभी तो पहली दूसरी शताब्दी के भी!

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आश्रित नहीं है। कभी-कभी एकाध प्रमाण परम्पराओं के भीतर से निकल भी आते हैं।

गोरक्षनाथ और शिव द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की परम्परा स्वयमेव एक प्रमाण है; नहीं तो यह समझ में नहीं आता कि क्यों कोई महागुरु अपने जीवितकाल में ही अनेक सम्प्रदायों का संघटन करेगा। सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु की अनुपस्थिति में ही मतभेद उपस्थित होते हैं। गुरु के जीवितकाल में होते भी है तो गुरु उन्हें दूर कर देते हैं। परन्तु प्रमाण और भी हैं।

योगि-सम्प्रदायाविष्कृति में लिखा है (पृ० ४१६-४२०) कि धवलगिरि से लगभग ८०-६० कोस की दूरी पर पूर्व दिशा में वर्तमान त्रिशूल गंगा के प्रभवस्थान पर्वत पर वाममार्गी लोगों का एक दल एकत्र होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढ़े। बहुत छान-बीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथ जी की यश चारों ओर फैल रहा है; यदि उससे प्रार्थना की जाय कि वह हमें अपने मार्ग का अनुयायी स्वीकार कर लें तो हम लोगों का मत लोकमान्य हो जाय। इन्होंने इसी उद्देश्य से उन्हें बुलाया। सब कुछ सुनकर श्री गोरक्ष जी ने कहा—आप यथार्थ रीति से प्रचार कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते हैं, अथवा प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर, अपने अवलम्बित मार्ग की वृद्धि करना चाहते हैं? यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब झगड़ों को छोड़कर केवल योग-क्रियाओं से ही सम्बन्ध जोड़ लें; इसके अतिरिक्त यदि अपने (पहले से ही गृहीत) मत की पुष्टि करना चाहते हैं तो हम यह नहीं कह सकते कि साधुओं का कार्य जहाँ गृहस्थ जनों को सन्मार्ग पर चढ़ा देना है वहाँ वे उन विचारों

को कुत्सित पथ में प्रविष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जायँ। वाममार्गियों ने—जिन्हें लेखक ने यहाँ 'कपाली' कहा है—दूसरी बात को ही स्वीकार किया और इसलिये गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्रार्थना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने मत को अपने मार्ग में स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने मार्ग को स्वीकार करने का उदाहरण भी पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखबंसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आये तो वहाँ देवी काली से उनकी मुठभेड़ हो गयी थी। काली जी को ही हारना पड़ा। फलस्वरूप उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय में शामिल हो गए। तभी से गोरक्षमार्ग में काली-पूजा प्रचलित हुई। इन दिनों सारे भारत के गोरख-पन्थियों में काली-पूजा प्रचलित है। यह कथा योगि-सम्प्रदायाविष्कृति में दी हुई है (पृ० ६१४-१६६)।

---

१४. धर्म और निरंजन मत

इस बात का निश्चित प्रमाण है कि ईस्वी सन् की बारहवीं शताब्दी में बिहार और काशी में बौद्धधर्म खूब प्रभावशाली था। उसके हज़ारों अनुयायी थे, मठ थे, विश्वविद्यालय थे और विद्वान् भिक्षुओं का बहुत बड़ा दल था। सन् ११९३ ई० में कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बख्तियार ने नालन्दा और ओदन्तपुरी के विहारों और पुस्तकालयों को नष्ट किया। कहते हैं कि जब विजेता सेनापति ने स्थानीय लोगों से पुछवाया कि इन पुस्तकों में क्या है, तो बतानेवाला कोई व्यक्ति वहाँ नहीं मिला। सम्भवतः पहले से ही विद्वान् भिक्षु भागकर अन्यत्र चले गए थे। कदाचित् इसी साल बनारस भी जीता गया और सारनाथ का विहार और ग्रन्थागार नष्ट किये गये। यद्यपि सारनाथ का कोई उल्लेख नहीं प्राप्त है तो भी ऐतिहासिक पंडितों का अनुमान है कि वहाँ के पुस्तकागार और मठ को भी अचानक ही जला दिया गया होगा।[1] बौद्धों का धर्म प्रधान रूप से संघ में केन्द्रित था। इन संघों के छितरा जाने से गृहस्थ अनुयायियों का केन्द्रीय अनुशासन टूट गया और वे धीरे-धीरे अन्य मतों में मिल गये। फिर भी बौद्ध धर्म एक-दम लुप्त नहीं हो गया। बंगाल और उड़ीसा में उसका जीवित रूप अब भी पाया जा सका है;[2] और बिहार के कुछ हिस्सों में वह बहुत दिनों तक बना रहा, इसका प्रमाण हम अभी पाएँगे।

---

[1] सर चार्ल्स इलियट: हिंदुइज़्म ऐंड बुद्धिज़्म, ऐन हिस्टारिकल स्केच, जिल्द २, पृ० ११२–११३.

[2] (क) सर्वप्रथम महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १८९५ ई० के 'जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल' में एक लेख लिखकर इस सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। बाद में सन् १९७१ ई० में

'डिस्कवरी ऑफ़ लिविंग बुद्धिज़्म इन बंगाल' नाम से एक पुस्तक भी प्रकाशित कराई। तब से अंग्रेज़ी और बँगला में इस विषय की बहुत चर्चा हुई है।

(ख) श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने सन् १९११ ई० में मयूरभंज आर्कयॉलोजिकल सर्वे की रिपोर्ट में 'माडर्न बुद्धिज़्म ऐंड इट्स फालोअर्स' नाम से एक विस्तीर्ण अध्याय लिखा जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में उन्होंने उड़ीसा में जीवित आधुनिक बौद्धधर्म की ओर पहले-पहल पंडितों का ध्यान आकृष्ट किया।

(ग) बिहार में चौदहवीं और पन्द्रहवीं शती में बौद्ध धर्म जीवित था और बाद में चलकर वह कबीरपन्थ में मिल गया, इस बात का प्रमाण इस अध्ययन में मिलेगा। अभी तक इस विषय पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

[1] एलियट, पृ० ११३—११४.

हिन्दी और भद्दी बिहारी भाषाओं की विचित्र खिचड़ी है।[1] इनमें बुद्ध के अवतार ग्रहण करने की और सत्ययुग प्रवर्तित होने की बात लिखी हुई है। इसका नाम 'बुद्धचरित' है। इन सब बातों से पता चलता है कि बौद्ध धर्म किसी-न-किसी रूप में दीर्घ काल तक जीवित रहा और अब भी किसी-न-किसी रूप में कहीं-कहीं जी रहा है।

सन् १३२४ ई० में तिरहुत के राजा को मुस्लिम आक्रमण के कारण भागना पड़ा। वह अपने साथ अनेक ब्राह्मण पंडितों को लेता गया। यद्यपि इसका राज्य दीर्घ काल तक स्थायी नहीं रह सका पर उसके पश्चात् एक दूसरे हिन्दू राजा जयस्थिति ने पंडितों की सहायता से समाज का स्तर-विभाजन कर दिया। उसने बौद्ध समाज को भी हिन्दुओं की भाँति नाना जातियों में विभक्त कर दिया। उसने प्रत्येक जाति का पेशा और उसकी सामाजिक मर्यादा भी तय कर दी। नेपाल में बौद्ध धर्म बहुत प्राचीन काल से पहुँच गया था। अशोक-काल से ही वहाँ इस धर्म के अस्तित्व का प्रमाण पाया जाता है। सातवीं शताब्दी के एक शिलालेख में वहाँ सात शैव, छः बौद्ध तथा चार वैष्णव तीर्थों का उल्लेख है। सो, हिन्दू राजा और समाज व्यवस्थापकों ने नये सिरे से मैदान के साथ नेपाल का सम्बन्ध बहुत दृढ़ किया। नेपाल-स्थित बौद्ध धर्म मैदान के ब्राह्मण धर्म द्वारा प्रभावित भी होता रहा और उसे प्रभावित भी करता रहा। आठवीं-नवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म बड़े वेग से तान्त्रिक साधना और काया योग की ओर बढ़ने लगा। बाद में शैव योगियों का एक सम्प्रदाय नाथपन्थ बहुत प्रबल हुआ, उसमें तान्त्रिक बौद्ध धर्म की अनेक साधनाएँ भी अन्तर्भुक्त थीं। इस मत से मैदान में बड़ा प्रभाव विस्तार किया। इन योगियों से कबीरदास का सीधा सम्बन्ध था,[1] फिर भी बीजक में नाना स्थानों पर बौद्धों की चर्चा आ ही जाती है। इस बौद्ध धर्म का स्वरूप केवल अनुमान का विषय है। ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसा के उत्तरीभाग, छोटा नागपुर को घेर कर रीवाँ से पश्चिमी बंगाल तक के क्षेत्र में धर्म या निरंजन

---

[1] देखिए लेखक का ग्रन्थ, 'कबीर'

की पूजा प्रचलित थी जिसके बारे में अनुमान किया गया है कि यह बौद्धधर्म का प्रच्छन्न (या विस्मृत) रूप था। बिहार के मानभूम, बंगाल के वीरभूम और बांकुड़ा आदि ज़िलों में एक प्रकार के 'धर्म'-सम्प्रदाय का पता लगा है। यह धर्म-मत अब भी जी रहा है।

धर्मपूजा-विधान में निरंजन का ध्यान इस प्रकार दिया हुआ है—

ओं यस्यान्तं नादिमध्यं न च करचरणं नास्ति कायो निनादम्
नाकारं नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मैव यस्य।
योगीन्द्रध्यानगम्यं सकलदलगतं सर्वसंकल्पहीनम्
तत्रैकोऽपि निरञ्जनोऽमरवरः पातु मां शून्यमूर्तिः ॥

रमाई पंडित के शून्यपुराण में धर्म को शून्य रूप, निराकार और निरंजन कहकर ध्यान किया गया है—

शून्यरूपं निराकारं सहस्रविघ्नविनाशनम्।
सर्वपरः परदेवः तस्मात्त्वं वरदो भव ॥ निरंजनाय नमः ॥

धर्माष्टक नामक एक निरंजन का स्तोत्र पाया गया है जिसकी संस्कृत तो बहुत भ्रष्ट है पर उससे निरंजन के स्वरूप पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है।[1]

---

[1] ओं न स्थानं न मानं न चरणारविंदं रेखं न रूपं न च धातुवर्णं।
द्रष्टा न दृष्टिः श्रुता न श्रुतिस्तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय।
ओं श्वेतं न पीतं न रक्तं न रेतं न हेमस्वरूपं न च वर्णकर्णं
न चंद्रार्कवह्नि उदयं न अस्तं तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय।
ओं न वृक्षं न मूलं न बीजं न चांकुरं शाखा न पत्रं न च स्कंधपल्लवं
न पुष्पं न गंधं न फलं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय।
ओं अधो न ऊर्ध्वं शिवो न शक्तो नारी न पुरुषो न च लिंगमूर्तिः।
हस्तं न पादं न रूपं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाय।
ओं न पंचभूतं न सप्तसागरं न दिशा विदिशं न च मेरु मन्दिरं।

कुछ विद्वानों के नये सिरे से इस शब्द के मूल स्रोत पर विचार किया है। कहा गया है कि 'धर्म' शब्द वस्तुतः आस्ट्रो-एशियाटिक श्रेणी की जातियों की भाषा के एक शब्द का संस्कृतीकृत रूप है। वह कूर्म या कछुए का वाचक है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बताया है कि दुल या दुली शब्द, जो अशोक के शिलालेखों में भी मिलता है और उत्तर-कालीन संस्कृत भाषा में भी गृहीत हुआ है और जो कछुए का वाचक है, आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा का शब्द है। संथाल आदि जातियों की भाषा में यह नाना रूपों में प्रचालित है। इन भाषाओं में 'ओम' स्वार्थक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम, दुलोम, दरोम का भी अर्थ कछुआ होता है। इसी शब्द का संस्कृत रूप धर्म है जो संस्कृत के इसी अर्थ के साथ गड़बड़ा दिया गया है। इस प्रकार धर्म-पूजा, जिसमें कछुए का मुख्य स्थान सम्भवतः सन्थाल-मुंडा आदि जातियों के विश्वास का रूप है। कबीर पन्थ में अब भी कूर्म जी का सम्मान बना हुआ है, यद्यपि उनके दूसरे नाम 'धर्म' की इज्जत बहुत घट गई है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि मुंडा लोगों में रमाई पंडित का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

आगे चल कर इस निरंजन का मत में इस्लाम का प्रभाव भी मिल गया था, पर वह यहाँ विवेच्य नहीं है। यहाँ इतना ही लक्ष्य करने की बात है कि पश्चिमी बंगाल और पूर्वी बिहार में धर्मपूजा एक जीवित मत है। उसके सबसे बड़े देवता निरंजन या धर्म हैं। उन्हें रूप, वर्ण आदि से अतीत

ब्रह्मा न इन्द्रं न च विष्णु रुद्रं तस्मै०
ओं ब्रह्मांडखंडं न च चंद्रदण्डं न कालबीजं न च गुरु शिष्यं।
न ग्रहं न तारा न च मेघजाला तस्मै०
ओं वेदो न शास्त्रं संध्या न स्तोत्रं मंत्रो न जाप्यं न च ध्यानकारणं।
होमं न दानं न च देवपूजा तस्मै०
ओं गंभीरधीरं निर्वाणशून्यं संसारसारं न च पाप-पुण्यं।
विकृति न विकर्णी न देवदेवं मम चित्त दीनं तस्मै नमस्ते० ॥

धर्मपूजा-विधान, पृ० ७७-७८

और शून्य रूप बताया गया है। इस पन्थ का अपना साहित्य है जिसे बंगाल में धर्म-मंगल साहित्य नाम दिया गया है। पंडितों का अनुमान है कि धर्मपूजा बौद्धधर्म का भग्नावशेष है। कुछ दूसरे पंडितों का अनुमान है कि धर्म या निरंजन देवता वस्तुतः आदिवासियों के ग्रामदेवता हैं। बाद में जब राढ़भूमि और झारखंड में पाल राजाओं का दबदबा बढ़ा तो बौद्धधर्म बहुत सम्मानित हुआ और ग्रामदेवता भी बौद्ध रंग में रँग गए। निरंजन या धर्म देवता भी बुद्ध के नये रूप में प्रकट हुए। जो हो, धर्मपूजा में बौद्धप्रभाव है अवश्य।

---

१५. कबीर मत में धर्म देवता का अवशेष

संक्षेप में स्थिति यह है कि राढ़भूमि, पूर्वी बिहार झारखंड और उड़ीसा में एक ऐसे परम देवता की पूजा प्रचलित थी (और कहीं-कहीं अब भी है) जिसका नाम धर्म (धर्मराय) और निरंजन था और जिसपर बौद्धमत का ज़बर्दस्त प्रभाव था। यह भी हो सकता है कि वह बौद्धमत का आरम्भ में प्रच्छन्न रूप रहा हो पर बाद में विस्मृत रूप बन गया हो। कबीर मत को इस पन्थ से निबटना पड़ा था। विशेष रूप से कबीर पन्थ की दक्षिणी शाखा (अर्थात् धर्मदासी सम्प्रदाय) को इस प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मत को आत्मसात् करने का श्रेय प्राप्त है। इस सम्प्रदाय को मानने वालों पर अपना प्रभाव विस्तार करने के लिये कबीर मत में उनकी समूची जटिल सृष्टि-प्रक्रिया और पौराणिक कथाएँ ले ली गई थीं। केवल इतना सुधार सर्वत्र कर लिया गया था कि निरंजन के प्रभाव से जगत् को मुक्त करने के लिये सत्यपुरुष ने बार-बार ज्ञानीजी को इस धराधाम पर भेजा था। ज्ञानी जी कबीर का ही नामान्तर है।

इस प्रसंग में लक्ष्य करने की बात यह है कि जिस प्रकार उड़ीसा में बौद्धधर्म वैष्णवधर्म के रूप में आविर्भूत होकर भी ब्राह्मणों का कोपभाजन बना था उसी प्रकार उन क्षेत्रों में भी हुआ था जो बीजक के प्रचार-क्षेत्र में आते थे। 'विप्रमतीसी' में ब्राह्मणों के वैष्णव-विद्वेष का उल्लेख है:

हरि भक्तन के छूत लगायी।

....

विष्णुभक्त देखे दुख पाये।

'कबीरबानी' और 'अनुरागसागर' में कबीरदास के मुँह से कहलवाया गया है कि काल (निरंजन) कबीर के नाम पर बारह पन्थ चलाएगा जो लोगों ... की वास्तविक शिक्षाओं से वंचित रखकर उन्हें भ्रम के फन्दे में

डाले रखेगा। कबीरबानी के अनुसार[1] इन बारह मतों में से तीसरे का नाम 'मूल-निरंजन' मत है। हमें किसी अन्य मूल से यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि यह 'मूल निरंजन' मत क्या था। कबीरबानी में केवल इसका नाम भर दिया गया है। परन्तु अनुरागसागर में इस पन्थ का कुछ विस्तृत वर्णन दिया गया है। यह वर्णन भी अस्पष्ट ही है। इससे ही पता चलता है कि काल का 'मनभंग' नामक दूत 'मूलकथा' को लेकर पन्थ चलाएगा और अपने पन्थ का नाम मूल पन्थ कहेगा। वह जीव का 'लूदी' नाम समझाएगा और इसी नाम को 'पारख' कहकर प्रचार करेगा। भंग शब्द का सुमिरन मुँह से कहेगा और समस्त जीवों को एक साथ पकड़कर रखेगा।[2] ऐसा जान पड़ता है कि कबीर-पन्थ की प्रतिष्ठा के बाद भी मूल निरंजन सम्प्रदाय ने एक बार सिर उठाया था और उस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा कायम करनी चाही थी जिसे कबीर-पन्थी साहित्य में कबीर-महिमा के प्रचार के लिये उपयोग में लाया गया है। परन्तु कबीर-पन्थी पुस्तकों से मालूम होता है कि इस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास करने वाला यह मूल निरंजन पन्थ अपने को कबीर मतानुयायी ही मानता था।

---

[1] कबीरबानी, पृ० ४६—४७

चौथा पन्थ सुनो धर्मदासा
मनभङ्ग दूत करे परकासा॥
कथा मूल ले पन्थ चलावे
मूल पन्थ कहि जग माहि आवे॥
लूदी नाम जीव समुझाई।
यही नाम पारख ठहराई॥
भंग शब्द सुमिरन भाखे।
सकल जीव थाका गहि राखे॥

—अनुरागसागर, पृ० ६४—६५

जो हो, कबीर-साहित्य से इस विस्मृत, किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, मत का यत्किंचित् परिचय मिलता अवश्य है।

कबीरपन्थ की सृष्टि-प्रक्रिया-विषयक पौराणिक कथा का संक्षिप्त विवरण लेखक ने अन्यत्र दिया है।[१] उसका पुनरुल्लेख यहाँ विस्तार भय से छोड़ दिया जा रहा है। इससे हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) कबीरपन्थ का एक ऐसा प्रतिद्वन्द्वी मार्ग था जिसके परम-देवता निरंजन थे। इस देवता के दूसरे नाम धर्मराज और काल थे।

(२) इस निरंजन का निवासस्थान उत्तर में मानसरोवर में था।

(३) ब्रह्मा का चलाया हुआ ब्राह्मण मत इस निरंजन को समझ न सकने के कारण मिथ्यावादी और स्वार्थी हो गया। यह ब्राह्मण मत भी कबीरपन्थ का प्रतिद्वन्द्वी था।

(४) निरंजन को पाने के लिये शून्य का ध्यान आवश्यक था।[२]

(५) उड़ीसा के जगन्नाथ जी निरंजन के रूप है।[३]

(६) द्वितीय, चतुर्थ और पंचम निष्कर्ष से अनुमान किया जा सकता है कि निरंजन बुद्ध का ही नाम था।

(७) निरंजन ने सारे संसार को भरमा रखा है—ऐसा प्रचार कबीरपन्थ को करना पड़ा था।

---

[१] द्रे० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर' पृ० ५२—७०

[२] धर्मगीता में महादेव दास ने कहा है कि जिस शून्य में महाप्रभु वास है उसे ही वैकुंठ कहा जाता है:

शून्य थीथं याहार शून्य भोगवासी।
न शोभे वचल रूप रेख नाहि किछि।
से आधार भुवने से प्रभुङ्क आसन।
मे स्थान सबुङ्क शुद्ध वैकुंठ भुवन।—माडर्न बुद्धिज्म पृ०

[३] तु० ततः कलौ संप्रवृत्ते संमोहाय सुरद्विषः।
बुद्धनाम्नाऽञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति।—भागवत

(८) 'अनुरागसागर', 'श्वासगुंजार' आदि ग्रन्थों से केवल दो प्रतिद्वन्द्वी मतों का पता चलता है—निरंजन द्वारा प्रवर्तित निरंजन मत, और ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मण मत। तीसरा मत विष्णु द्वारा प्रवर्तित वैष्णव मत है। कबीरपन्थ के ग्रन्थ इस मत को कथंचित् अनुकूल पाते हैं।[1]

(९) 'श्वासगुंजार' आदि ग्रन्थों से प्राप्त यह कथा प्रायः उलझे हुए रूप में मिलती है जो इस बात का प्रमाण है कि यह किसी भूली पुरानी परम्परा का भग्नावशेष है।

इस प्रकार यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत-सी रचनाएँ परवर्ती हो सकती हैं फिर भी उनसे अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ सकता है। कबीरपन्थी साहित्य के अध्ययन के बिना जिस प्रकार धर्म और निरंजन मत का अध्ययन अधूरा रह जाता है उसी प्रकार बंगाल, उड़ीसा और पंजाब आदि प्रान्तों के निरंजन मत का अध्ययन किये बिना कबीर-साहित्य का अध्ययन भी अपूर्ण रह जाता है। भारतीय साधना-साहित्य में यह एक महत्त्वपूर्ण विरोधाभास है कि रचना-काल की दृष्टि से परवर्ती होने पर भी कभी-कभी पुस्तकें अत्यन्त पुरातन परम्परा का पता देती हैं। गोरक्ष सम्प्रदाय की अनुश्रुतियाँ, कबीरपन्थ के ग्रन्थ, धर्मपूजा-विधान साहित्य यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत अर्वाचीन हैं तथापि वे अनेक पुरानी परम्पराओं के अवशेष हैं। समूची भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिये इनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है। लोकभाषाओं का साहित्य हमें अनेक अधभूली, भूली और उलझी हुई परम्पराओं के समझने में अमूल्य सहायता पहुँचाता है। भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी के लिये इनकी उपेक्षा हानिकर है।

---

[1] कबीर मंसूर, पृ० ६४

१६. सन्त-साहित्य की सामाजिक पृष्ठभूमि

मध्यकाल का सन्त-साहित्य प्रधान रूप से धार्मिक साहित्य है, परन्तु उसका धार्मिक रूप साधारण जनता के लिये लिखा गया है। इस विषय में तो किसी को मतभेद न होगा कि इस साहित्य में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों की आलोचना की गई है। दीर्घ काल से प्रचलित धार्मिक विश्वासों, सामाजिक और वैयक्तिक आचरणों के मान तथा विभिन्न संप्रदायों द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों पर या तो आक्रमण किया गया है, या उनके सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किया गया है। यह विभिन्न सन्तों के उस तीव्र असंतोष का फल है जो उन्हें सामाजिक परिस्थितियों के कारण अनुभूत हो रहा था। जिस कवि या लेखक के पास सचमुच ही कुछ कहने की वस्तु होती है, उसके व्यक्तित्व का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह मालूम होगा कि समाज में प्रतिष्ठित रूढ़ियों में वह कुछ ऐसी त्रुटि देख रहा है, जो उसे बुरी तरह से खल रही है। वह खलनेवाली बात का विरोध करता है और उसके स्थान पर कुछ ऐसी बातों को प्रतिष्ठित करना चाहता है, जो उसके मन के अनुकूल होती हैं। इसलिये जो भी महापुरुष कुछ कहने लायक बात कहता है, वह किसी-न-किसी रूप में सामाजिक परिस्थितियों से असंतुष्ट होता है और किसी-न-किसी बात का प्रचार करना चाहता है। वह जो कुछ कहना चाहता है, उसकी उपादेयता पर ही उसके वक्तव्य का महत्त्व होता है। लेकिन उपादेयता क्या है, इस विषय में नाना मुनियों के/नाना मत हैं। हम अभी इस प्रश्न पर नहीं आना चाहते। आगे इस पर विचार करने का भी हमें अवसर मिलेगा। अभी इतना जान रखना आवश्यक है कि लेखक जब देने-लायक कुछ देता है तो उसके चित्त में कहीं-न-कहीं और किसी-न-किसी प्रकार की सामाजिक त्रुटि से उत्पन्न व्याकुलता अवश्य रहती है।

जिसे हम आजकल संत-साहित्य कहने लगे हैं, वह वस्तुतः निर्गुण

भक्तिमार्ग का साहित्य है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उत्तर भारत में भक्तिमार्ग को रामानन्द ले आये थे और सौभाग्य से उन्हें कबीर जैसा शिष्य मिल गया था। कबीर के अनुयायियों में यह दोहा प्रचलित है :

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
प्रगट किया कबीर ने सत द्वीप नव खण्ड ॥

पद्म पुराण के उत्तर खण्ड में जो श्री मद्भागवत माहात्म्य है, उसमें भक्ति के मुख से यह कहलवाया गया है कि मैं द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बड़ी हुई, कहीं-कहीं महाराष्ट्र में विहार करती हुई अन्त में गुर्जर देश में आकर जीर्ण हो गई। फिर घोर कलि काल में पाखण्डियों ने मेरा सिर खण्ड खंड कर दिया, और मैं अपने पुत्रों के साथ दुर्बल होकर क्षीण हो गई। अन्त में वृन्दावन में मुझे नया रूप प्राप्त हुआ और यहाँ आकर युवावस्था में मनोरम रूप प्राप्त करने में समर्थ हो सकी।

उत्पन्ना द्राविडेसाहं, वृद्धिं कर्णाटके गताः
क्वचित् क्वचिन महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता

कबीर पन्थियों में प्रचलित दोहे से इस श्लोक का इतना ही साम्य है कि भक्ति द्रविड़ देश में उत्पन्न हुई थी और वहाँ से क्रमशः उत्तर दिशा को आई। परन्तु द्रविड़ देश में जो भक्ति उत्पन्न हुई थी उसका वही रूप नहीं है जो कबीर आदि निर्गुण सन्तों में प्राप्त होता है। इसका क्या कारण हो सकता है ? निःसंदेह यहाँ कुछ ऐसी सामाजिक परिस्थितियाँ थीं जिनके कारण द्रविड़ देश की उत्पन्न भक्ति ने उत्तर में आकर यह रूप ग्रहण किया। साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि उस भक्ति ने उत्तर भारत के दो श्रेणी के भक्तों में दो रूप ग्रहण किए। जो भक्त ऊँची जातियों से आए थे उनमें उसने जो रूप ग्रहण किया, वह परम्परा प्रचलित विश्वासों के प्रति उतने तीव्र और आक्रामक रूप में नहीं प्रकट हुई जिस आक्रामक रूप में वह उन भक्तों में प्रकट हुई जो समाज की निचली श्रेणी की जातियों के भीतर से आए थे। प्रथम श्रेणी के भक्तों ने समाज में प्रचलित शास्त्रीय आचार-विचार, व्रत-उपवास, ऊँच-नीच की मर्यादा को स्वीकार कर लिया। उनका असन्तोष

दूसरी श्रेणी के भक्तों के असंतोष से बिलकुल भिन्न था। वे सामाजिक व्यवस्था से असंतुष्ट नहीं थे। वे लोगों के भोगपरक भगवद्-विमुख आचरण से असंतुष्ट थे। श्रुति और श्रुति-परम्परा में आनेवाले धर्मग्रन्थों को कर्तव्य-कर्तव्य के नियमन के लिये उन्होंने अविसंवादी प्रमाण के रूप में स्वीकार किया था। तुलसीदास, सूरदास आदि, सगुणमार्गी भक्तों की वाणियों में गणिका, अजामिल के तरने की चर्चा बार-बार आती है। पौराणिक विश्वास के अनुसार ये लोग उच्च कोटिका जीवन-यापन करने वाले नहीं थे। लेकिन "भाव-कुभाव अनख आलसहू" किसी प्रकार इनके मुख से भगवान का नाम निकल गया और वे तर गए। इन नामों का भक्ति-साहित्य में आना भक्तों के अत्यधिक वैयक्तिक दृष्टि का परिचायक है, जिसमें केवल साधु उद्देश्य पर ही जोर दिया गया है। उस उद्देश्य का फल क्या होगा, इसपर ध्यान नहीं दिया गया।

दूसरी ओर निचली श्रेणी से आए हुए भक्तों में सामाजिक अवस्था के प्रति भी तीव्र असंतोष का भाव व्यक्त होता है। यद्यपि उनमें भी वैयक्तिक साधु-बुद्धिपर कम जोर नहीं दिया गया।

इतना तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष में दो प्रकार का अत्यन्त स्पष्ट सामाजिक स्तर था। एक में शास्त्र के पठन-पाठन की व्यवस्था थी, और उनके आदर्श पर संगठित सामाजिक व्यवस्था के प्रति सहानुभूति थी, और दूसरे में सामाजिक व्यवस्था के प्रति तीव्र असंतोष का भाव था।

यह अवस्था एक दिन की उपज नहीं थी। दीर्घ काल तक इसको खुराक मिलती रही। वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा इस देश में बहुत पहले से हो चुकी थी। नाना उतार-चढ़ावों के रहते वेद अन्त तक भारतीय जनता के परम आदर और श्रद्धा के पात्र बने रहे। जैसा कि पहले कहा गया है सन् ईस्वी की छठीं-सातवीं शताब्दी के आस-पास एक विशेष प्रवृत्ति का परिचय इस देश में पाया जाता है। बहुत-से धर्ममतों को नीचा दिखाने के लिये उन्हें वेदबाह्य कह दिया जाता है। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे बढ़ती ही जाती है। बाद में किसी सम्प्रदाय को अवैदिक कह देना, उसे लोक-दृष्टि में हेय बनाने का साधन बन गया। लेकिन एक और प्रवृत्ति भी उन दिनों उतने ही उग्र रूप में पाई जाती है, जिसकी चर्चा

बहुत कम हुई। इसमें वेदों को ही तुच्छ बताने की प्रवृत्ति है। सातवीं-आठवीं शताब्दी के तान्त्रिकों में वेदविहित आचार को हेय घोषित करने की प्रवृत्ति बहुत तीव्र है। बताया गया है कि आचार सात प्रकार के होते हैं। पहला वेदाचार सबसे हेय आचार है जिसमें वैदिक काम्य कर्म, यज्ञ यागादि विहित हैं; दूसरा, वैष्णवाचार है जिसमें निरामिष भोजन और पवित्र भाव से व्रत, उपवास, ब्रह्मचर्य और भजन-पूजन का विधान है। इससे थोड़ा अच्छा शैवाचार है जिसमें यमनियम, ध्यान-धारणा, समाधि और शिव-शक्ति की उपासना का विधान है। इन तीनों आचारों से श्रेष्ठ है दक्षिणाचार। इसमें उपर्युक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल में भंग आदि मादक वस्तुओं का सेवन और इष्ट मन्त्रों का जप विहित है। लेकिन यद्यपि वैदिक से वैष्णव, उससे शैव और शैव से दक्षिणाचार श्रेष्ठ है, तथापि ये सब पशु-भाव की ही साधनाएँ हैं; वीर भाव के साधक के लिये पांचवाँ आचार वामाचार है जिसमें आत्मा का वामा अर्थात् शक्ति के रूप में कल्पना करके, साधना विहित है। उससे श्रेष्ठ आचार है सिद्धान्ताचार जिसमें मन को अधिकाधिक शुद्ध करके यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि संसार में प्रत्येक वस्तु शोधन से शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेले तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परम शिव से भिन्न हो। पर इनमें सबसे श्रेष्ठ है कौलाचार। जिसमें कोई भी नियम नहीं है। स्पष्ट ही इस प्रकार के सोचनेवाले वैदिक आचार को तुच्छ वस्तु मानते थे। कारण क्या है?

जिन दिनों निर्गुण भक्ति-साहित्य का बीजारोप हुआ उन दिनों अनेक उथल-पुथल के बाद भारतीय जनता का स्तरभेद प्रायः स्थिर और दृढ़ हो चुका था। मोटे तौरपर हम सन् ईस्वी की चौदहवीं शताब्दी में इस नवीन साधना का बीजारम्भ मान सकते हैं। इसके पहले के दो-तीन सौ वर्षों में भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में काफी उथल-पुथल हुई थी। यद्यपि मुसलमानों का प्रवेश इस देश के एक भूभाग में सातवीं-आठवीं शताब्दी में ही हो चुका था, तथापि प्रभावशाली मुस्लिम आक्रमण दसवीं शताब्दी के बाद होने लगा। यह बड़ा विकट काल था।

एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध-साधना क्रमशः मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। सन् ईस्वी की दसवीं शताब्दी में ब्राह्मण धर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था; फिर भी बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद की प्रधानता को नहीं मानता था। यद्यपि इनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत प्रयत्न किया है कि उनके मार्ग को श्रुतिसम्मत मान लिया जाय, परन्तु यह सत्य है कि अनेक शैव और शक्ति समुदाय ऐसे थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण प्राधान्य को एक दम नहीं स्वीकार करते थे। ऊपर हमने यह दिखाया है कि दसवीं शताब्दी के पहले उत्तर भारत में पाशुपत मत कितना प्रबल था। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-विवरण में इस मत का बारह बार उल्लेख किया है। बाणभट्ट के ग्रन्थों में इसकी चर्चा आती है। ऐसा जान पड़ता है कि उन दिनों कट्टर वेदमार्गी इस सम्प्रदाय को वेदबाह्य ही मानते थे। शंकराचार्य ने इनके धर्म विश्वास को "वेदबाह्येश्वर कल्पना" कहा है। दसवीं शताब्दी के आस-पास ब्राह्मण मत क्रमशः प्रबल होता गया और इस्लाम के आने से एक ऐसा सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हुआ जिससे सारा देश दो प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों में विभक्त हो गया। अपने को या तो हिन्दू कहना पड़ता था या मुसलमान। किनारे पर पड़े हुए अन्य सम्प्रदायों को दोनों में से किसी एक को चुन लेना पड़ा। पूर्वी बंगाल के वेदबाह्य सम्प्रदायों के ध्वंसावशेष कई धार्मिक सम्प्रदाय ऐसे थे जिन्होंने मुसलमानों को अपना त्राणकर्त्ता समझा था। वे समूह के समूह मुसलमान हो गये। पंजाब में भी नाथों, निरंजनों और पाशुपतों की अनेक शाखाएँ मुसलमान हो गयीं। गोरखनाथ के समय ऐसे अनेक शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो न तो हिन्दू थे न मुसलमान। जो शैव और शाक्त मार्ग अवेदानुयायी थे वे क्रमशः ब्राह्मण प्रधान हिन्दू समाज में मिल गये और निरन्तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। यह प्रयत्न अब भी जारी है। गोरखनाथ के सम्प्रदाय में अनेक बौद्ध, शैव, शाक्त सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हुए; परन्तु इस सम्प्रदाय के भी बहुतेरे गृहस्थ मुसलमान हो

बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का; एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों में से किसीको सम्मत नहीं था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को इष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनों के साधन थे, भगवान् की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों ही का अनुभव था कि भगवान लीला के लिये इस जागतिक प्रपंच को सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने में रस पाते रहे जब कि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

उन दिनों भारतवर्ष के शास्त्रज्ञ विद्वान् निबंध रचना में जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ को मानकर, सबके प्रति आदर का भाव बनाए रखकर, अपना रास्ता निकाल लेना। सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त लोग भी संपूर्ण रूप से इसी पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। वे समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुंठ चित्त से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेमपरक में लगाने लगे। इसके लिये उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रों के प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करते समय उन्हें नाना अधिकारियों नाना भजन-शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, और शास्त्र-ग्रन्थों के तारतम्य की भी कल्पना करनी पड़ी। सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाण ग्रन्थ मानना पड़ा था, पर

इसीलिए अपने इतिहास में इन्होंने कभी भी किसी शास्त्र के प्रसंग में अवज्ञा या अवहेलना का भाव नहीं दिखाया। उनका रुचि अधिक भगवान् के नाम, कीर्तन का और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होंने कहे हैं कि साथ समस्त शास्त्रों की मर्यादा रखता है। सगुण भाव के भक्तों की महिमा उनके असीम प्रेम और आत्मसमर्पण में है। पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके अक्खड़ साहस में है। एक ने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया दूसरे ने सब कुछ छोड़ देने का असीम साहस।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या नीतिपरक ही इस युग के विचार स्रोत को रूप नहीं दे रहे थे। कम-से-कम हिंदी के भक्ति-साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अलंकार-शास्त्र और काव्यगत रूढ़ियों से उसे एक दम मुक्त नहीं किया जा सकता। परन्तु फिर भी यह वही चीज नहीं है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य है। विशेषताएँ बहुत हैं और हमें उन्हें सावधानी से जानना चाहिए।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकारशास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन आलंकारिकों ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता संबंधी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद् विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत् के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है, केवल जड़जगत् से मानसिक संबंध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़ जगत् के संबंध की ही स्थायित्व पर से रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक संबंध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम को प्रधानता

दी जाती। जो लोग शान्तरस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंग में बारंबार 'जड़-जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार है। इसीलिये चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से संबंध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्तिशास्त्रियों का दावा है, कि अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिये भगवत्-प्रेम न तो इंद्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धि-साध्य। वह अनुभव द्वारा ही आस्वाद्य हैं। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन बुद्धि-स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विश्रमित होता है भागवत ने (११. २. ३६)इसीलिये कहा है।

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥"

पर निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिये शास्त्र बहुत कम सहायक हैं। अब तक इनके अध्ययन के लिये जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक-ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन-लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियाँ हैं, और उतने ही महत्त्वपूर्ण विषय हैं। भिन्न भिन्न जातियों और संप्रदायों की रीतिनीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्ति साहित्य के पढ़ने वाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है—विशेष कर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक को अपने ज्ञान का गर्व था दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा, एक के

लिये पिंड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिये ब्रह्माण्ड ही पिंड; एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुणधारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ कभी न झुकने वाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ़ घर-फूँक मस्ती वाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है। नाथ मार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तंत्र मत की अनेक साधनाएँ और चिन्ताएँ आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वैदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्यकाल के निर्गुण कवियों के साहित्य में आने वाले सहज, शून्य निरंजन, नाद, विन्दु आदि बहुतेरे शब्द, जो इस साहित्य के मर्मस्थल के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नहीं आ सकते, जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गंभीरतापूर्वक न किया जाय। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बारबार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता-जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस लहज़े में किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ख-सम' भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम' अवस्था कहा करते हैं। 'ख—सम' और 'गगनोपम' एक ही बात है। अवधूत गीता में इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते; जो माया-प्रपंच के ऊपर है,

धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जब आदि महापुरुष इसी वंश के रत्न थे। वस्तुतः ही वे 'ना-हिंदू-ना-मुसलमान' थे। सहजपंथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफ़ी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं। मैं यह तो नहीं कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहले वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं, पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थीं और दूसरों के मानने-न-मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अध्येता को, इन जातियों की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप ज़रूर जानने चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक जाति में और न एक सम्प्रदाय में ही। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-बिंदु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वे साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सकते थे। पर इसीको सब-कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जायें तो इसेभी ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे।

---

१८. जातिभेद की कठोरता और उसकी प्रतिक्रिया

यदि निर्गुणिया सन्तों की वाणियों का सामाजिक अध्ययन के लिये विश्लेषण किया जाय तो एक बात स्पष्ट हो जाएगी कि इन वाणियों को रूप देने में मध्यकालीन सामाजिक स्तरभेद की कठोरता का बड़ा हाथ है। प्रायः सभी सन्त-समाज के उस स्तर से आए थे जो आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त निचले भाग में था। व्यक्तिगत रुचि और संस्कार के कारण इस कठोर स्तरभेद की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न रूप में हुई है पर सबमें इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव है। केवल मात्रा का ही भेद है।

मध्यकाल में जातियों और उपजातियों की सीमाएं जो बढ़ती गईं और कठोर से कठोरतर होती गईं उसके अनेक कारण हैं। सबकी थोड़ी-बहुत चर्चा किए बिना उसके मध्यकालीन रूप को समझना संभव नहीं है। इसीलिये थोड़ा आगे-पीछे जाने में यहाँ संकोच नहीं किया जा रहा है।

मध्यकाल की इस विशेषता को समझने के लिये दो प्रकार से प्रयास किया जा सकता है। प्रथम तो यथासंभव पुराने ज़माने के अर्ध विस्मृत इतिहास से इस प्रथा का मूल और उसका क्रम-विकास देखकर हम उसका मध्यकालीन रूप समझ सकते हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि 'पुराने ज़माने' की कोई सीमा नहीं है और उसके बारे में हम जो कुछ भी संग्रह करते हैं उसकी पूर्णता के बारे में संदेह बना ही रहता है। हमेशा कुछ छूट जाने की संभावना बनी रहती है। इसलिये उससे पूरा चित्र स्पष्ट नहीं होता। इसीलिये विद्वानों ने एक दूसरा उपाय भी सोचा है। हमें अज्ञात पर बहुत अधिक भरोसा न करके ज्ञात का अध्ययन करना चाहिए और आधुनिक काल की सामाजिक व्यवस्था हमारी सर्वाधिक ज्ञात वस्तु है। सो, अज्ञात को इस ज्ञात के सहारे खोजना चाहिए इस दृष्टि से आधुनिक जातिभेद व्यवस्था को जानकारी आवश्यक। है

धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जब आदि महापुरुष इसी वंश के रत्न थे। वस्तुतः ही वे 'ना-हिंदू-ना-मुसलमान' थे। सहजपंथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफ़ी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं। मैं यह तो नहीं कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहले वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं, पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थीं और दूसरों के मानने-न-मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अध्येता को, इन जातियों की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप ज़रूर जानने चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक जाति में और न एक सप्रम्दाय में ही। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-विंदु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग जहाँ से एक तरफ़ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वे साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सकते थे। पर इसीको सब-कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जायें तो इसेभी ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे।

---

१८. जातिभेद की कठोरता और उसकी प्रतिक्रिया

यदि निर्गुणिया सन्तों की वाणियों का सामाजिक अध्ययन के लिये विश्लेषण किया जाय तो एक बात स्पष्ट हो जाएगी कि इन वाणियों को रूप देने में मध्यकालीन सामाजिक स्तरभेद की कठोरता का बड़ा हाथ है। प्रायः सभी सन्त-समाज के उस स्तर से आए थे जो आर्थिक और सामाजिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त निचले भाग में था। व्यक्तिगत रुचि और संस्कार के कारण इस कठोर स्तरभेद की प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न रूप में हुई है पर सबमें इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव है। केवल मात्रा का ही भेद है।

मध्यकाल में जातियों और उपजातियों की सीमाएं जो बढ़ती गईं और कठोर से कठोरतर होती गईं उसके अनेक कारण हैं। सबकी थोड़ी-बहुत चर्चा किए बिना उसके मध्यकालीन रूप को समझना संभव नहीं है। इसीलिये थोड़ा आगे-पीछे जाने में यहाँ संकोच नहीं किया जा रहा है।

मध्यकाल की इस विशेषता को समझने के लिये दो प्रकार से प्रयास किया जा सकता है। प्रथम तो यथासंभव पुराने ज़माने के अर्ध विस्मृत इतिहास से इस प्रथा का मूल और उसका क्रम-विकास देखकर हम उसका मध्यकालीन रूप समझ सकते हैं। परन्तु कठिनाई यह है कि 'पुराने ज़माने' की कोई सीमा नहीं है और उसके बारे में हम जो कुछ भी संग्रह करते हैं उसकी पूर्णता के बारे में संदेह बना ही रहता है। हमेशा कुछ छूट जाने की संभावना बनी रहती है। इसलिये उससे पूरा चित्र स्पष्ट नहीं होता। इसीलिये विद्वानों ने एक दूसरा उपाय भी सोचा है। हमें अज्ञात पर बहुत अधिक भरोसा न करके ज्ञात का अध्ययन करना चाहिए और आधुनिक काल की सामाजिक व्यवस्था हमारी सर्वाधिक ज्ञात वस्तु है। सो, अज्ञात को इस ज्ञात के सहारे खोजना चाहिए इस दृष्टि से आधुनिक जातिभेद व्यवस्था को जानकारी आवश्यक। है

आगे हम दोनों ही रूपों में इस विषय का अध्ययन करने का प्रयत्न कर रहे हैं। इस अध्ययन के अन्त में आधुनिक जातियों की नामावली और उसका विश्लेषण भी सुविधा के लिये जोड़ रहे हैं।

इस महादेश के विशाल जन-समूह में आर्यों के बाद भी अनेकानेक जातियाँ उत्तर-पश्चिम की ओर से आकर इस देश में बस गई हैं। इनमें की अधिकांश जातियों ने वैदिक आर्यों के धर्म और समाज-विधान को आंशिक रूप से स्वीकार कर लिया है। जिन पंडितों ने नृतत्त्व विज्ञान की दृष्टि से भारतीय जन-समूह का अध्ययन किया है उन्होंने लक्ष्य किया है कि इस समूचे जन-समूह में सात प्रकार के चेहरे पाये जाते हैं। (१) तुर्क-ईरान टाइप; जिसमें सीमान्त और बलूचिस्तान के बलूच, ब्राहुई, और अफगान शामिल हैं, शायद फ़ारसी और तुर्की जातियों के मिश्रण से बना है। (२) हिन्द-आर्य टाइप; जिसमें पंजाब, राजपूताना और काश्मीर के खत्री, राजपूत और जाट शामिल हैं। (३) शक-द्रविड़ टाइप, जिसमें पश्चिम भारत के मराठे ब्राह्मण, कुनबी, कुर्ग आदि शामिल हैं, शक और द्रविड़ जातियों के मिश्रण से बना है। (४) आर्य-द्रविड़ टाइप; जिसमें उत्तरप्रदेश, कुछ राजस्थान, विहार आदि प्रदेशों के लोग हैं। इनका उच्चतम स्तर हिन्दुस्थानी ब्राह्मणों से और निम्नतम स्तर चमारों से बना है। ये आर्य और द्रविड़ जातियों के मिश्रण से बने हैं। (५) मंगोल-द्रविड़ टाइप; जिसमें बङ्गाल-उड़ीसा के ब्राह्मण और कायस्थ तथा पूर्वी बङ्गाल और असम के मुसलमान हैं; शायद मंगोल-द्रविड़ और आर्य रक्त के मिश्रण से बना है। (६) मंगोल-टाइप; जिसमें नेपाल, असम, बर्मा की जातियाँ हैं। (७) द्रविड़ टाइप; जिसमें गंगा की घाटी से लेकर सिंहल तक मद्रास, हैदराबाद मध्य-प्रदेश आदि की जातियां शामिल हैं (रिज़ली; पीपुल आफ इण्डिया पृ० ३१-३३)। अब यह स्पष्ट है कि यद्यपि हिन्दुओं के धर्मशास्त्र के नाम पर सिर्फ आर्यों के संस्कृत ग्रंथ ही पाये जाते हैं तथापि समूची भारतीय जनता उन ग्रंथों के प्रतिपाद्य से अधिक विस्तृत है। पहले वैदिक साहित्य से शुरू किया जाय।

न जाने कबसे भारतवर्ष में यह प्रथा रूढ़ हो गई है कि किसी भी

विषय का मूल वेदों में खोज निकालने का प्रयत्न किया जाता है। आधुनिक शोधों से इस प्रथा को और भी बल मिल गया है। भारतीय समाज की सबसे जटिल और महत्त्वपूर्ण विशेषता—इस जातिभेद को भी वेदों से खोज निकालने का प्रयत्न किया गया है। पर इस विषय में बड़ा भारी मतभेद है। भारतीय पण्डितों में तो इस विषय में काफी मतभेद होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जाति-भेदवाली प्रथा उनके लिये केवल पांडित्य-प्रदर्शी वाद विवाद या समाजशास्त्रीय कुतूहल का विषय नहीं है, बल्कि एक ऐसी बात है जिसकी अच्छाई या बुराई उसके राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न है, किन्तु विदेशी पंडित भी इस विषय में एकमत नहीं हैं। किसी-किसी के मत से इस प्रथा का कोई भी उल्लेख समूचे वैदिक साहित्य में नहीं है। पर दूसरों के मत से जाति-भेद का मूल बीज वैदिक साहित्य में वर्तमान है। वस्तुतः जाति प्रथा का कोई एक मूल नहीं है। इसीलिये उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं के मूल भिन्न-भिन्न स्थानों पर खोजने चाहिये। जहाँ तक वर्तमान लेखक ने अपने साहित्य को समझा है, वहाँ तक उसे यह कहने में संकोच नहीं कि वैदिक साहित्य में इस प्रथा के कुछ मूल बीज जरूर वर्तमान हैं, परन्तु उस युग में यह प्रथा धर्म और समाज का इतना जबर्दस्त अंग निश्चय ही नहीं थी। समस्त वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और धर्म-गृह्य-श्रौत सूत्रों में शायद ही कहीं जाति शब्द का व्यवहार आधुनिक अर्थ में हुआ हो। यहाँ यह इशारा भी नहीं किया जा रहा है कि वैदिक साहित्य में बराबर आनेवाले चार वर्णों के नाम को ही जाति-प्रथा का मूल रूप माना जाय, क्योंकि वर्ण और जाति को समानार्थक शब्द नहीं माना जा सकता। परन्तु यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वर्ण-व्यवस्था जातिभेद के बहुत से लक्षणों के जटिल होने के लिये उत्तरदायी जरूर है। मूल संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय या राजन्य, विश् या वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों का भूरिशः उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य जातियों की चर्चा तो नहीं है, पर प्रसङ्ग-क्रम से चाण्डाल, पौल्कस, निषाद, दास, शबर, भिषज्, रथकार और वृषल शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया गया है जिससे जान पड़ता है कि ये चार वर्णों से बाहर हैं।

१६. स्पृश्यास्पृश्य-विचार

छुआछूत का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि उनके चार मोटे-मोटे स्तर हैं; इन स्तरों के और भी कई परत हैं। चार मोटे स्तर ये हैं—(१) वे जातियाँ जिनके देखने से ऊँची जाति के आदमी का अन्न और शरीर दोषयुक्त हो जाते हैं, (२) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँची जाति के आदमी-का शरीर अपवित्र हो जाता है, (३) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँचीजाति के आदमी का-शरीर तो नहीं पर पानी या घृतपक्व अन्न दोषयुक्त हो जाते हैं और (४) वे जातियाँ जिनके छूने से पानी या घृतपक्व अन्न तो नहीं, परन्तु कच्ची रसोई दोषयुक्त हो जाती है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा प्रायः देखा गया है कि एक ही जाति जो बंगाल में तीसरे स्तर में हैं, मद्रास में दूसरे में और राजस्थान में चौथे में। इसपर से यह अनुमान करना बिल्कुल उचित ही है कि यद्यपि हिन्दू-शास्त्रो की प्रवृत्ति-तत्तज्जातियों के समूह को हमेशा के लिये स्थिर कर देना रही है, तथापि व्यवहार में कारणवश यह कठोरता कम या अधिक भी होती रही है। इस तरह उदाहरणों को मूल में अन्यत्र दिखाने का प्रयास किया गया है। यहाँ प्रकृत बात है, वैदिक साहित्य में वर्णित छुआछूत।

यह प्रायः सर्ववादि-सम्मत मत है कि समूची संहिताओं और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इस प्रकार की छुआछूत का उल्लेख नहीं मिलता। धर्म-सूत्रों में संसर्ग-दुष्ट, काल-दुष्ट और आश्रय-दुष्ट इन तीन प्रकार के दोषयुक्त अन्न को अभोज्य बताया गया है। इनमें आश्रय-दुष्टता में छुआछूत का कुछ आभास मिलता है। गौतम धर्मसूत्र में संसर्ग-दुष्ट और काल-दुष्ट अन्न का वर्णन करने के बाद सूत्रकार ने दो और सूत्र लिखे हैं, जिनमें उन आश्रयों का उल्लेख है जिनके यहाँ अन्न अभोज्य हो जाता है (गौतम-धर्मसूत्र १७।१५-१६)।

१६. स्पृश्यास्पृश्य-विचार

छुआछूत का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि उनके चार मोटे-मोटे स्तर हैं; इन स्तरों के और भी कई परत हैं। चार मोटे स्तर ये हैं—(१) वे जातियाँ जिनके देखने से ऊँची जाति के आदमी का अन्न और शरीर दोषयुक्त हो जाते हैं, (२) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँची जाति के आदमी का शरीर अपवित्र हो जाता है, (३) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँचीजाति के आदमी का शरीर तो नहीं पर पानी या घृतपक्व अन्न दोषयुक्त हो जाते हैं और (४) वे जातियाँ जिनके छूने से पानी या घृतपक्व अन्न तो नहीं, परन्तु कच्ची रसोई दोषयुक्त हो जाती है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा प्रायः देखा गया है कि एक ही जाति जो बंगाल में तीसरे स्तर में है, मद्रास में दूसरे में और राजस्थान में चौथे में। इसपर से यह अनुमान करना बिल्कुल उचित ही है कि यद्यपि हिन्दू-शास्त्रों की प्रवृत्ति-तत्तज्जातियों के समूह को हमेशा के लिये स्थिर कर देना रही है, तथापि व्यवहार में कारणवश यह कठोरता कम या अधिक भी होती रही है। इस तरह उदाहरणों को मूल में अन्यत्र दिखाने का प्रयास किया गया है। यहाँ प्रकृत बात है, वैदिक साहित्य में वर्णित छुआछूत।

यह प्रायः सर्ववादि-सम्मत मत है कि समूची संहिताओं और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इस प्रकार की छुआछूत का उल्लेख नहीं मिलता। धर्म-सूत्रों में संसर्ग-दुष्ट, काल-दुष्ट और आश्रय-दुष्ट इन तीन प्रकार के दोषयुक्त अन्न को अभोज्य बताया गया है। इनमें आश्रय-दुष्टता में छुआछूत का कुछ आभास मिलता है। गौतम धर्मसूत्र में संसर्ग-दुष्ट और काल-दुष्ट अन्न का वर्णन करने के बाद सूत्रकार ने दो और सूत्र लिखे हैं, जिनमें उन आश्रयों का उल्लेख है जिनके यहाँ अन्न अभोज्य हो जाता है (गौतम-धर्मसूत्र १७।१५-१६)।

वशिष्ठ धर्मशास्त्र में (१४।१-४) में भी अभोज्यान्नों की एक लम्बी सूची दी हुई है। परन्तु उसी अध्याय में शास्त्रकार ने ऐसे अनेक ऐतिहासिक उदाहरण दिये हैं (जैसे अगस्त मुनि का मृगया करने पर भी अपवित्र न होना) जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में इन नियमों के पालन में काफी शिथिलता थी। इसी प्रकार आपस्तंब धर्मसूत्र में भी ऐसे बहुत से कर्म और जीविकाएं हैं, जिनके करने वालों का अन्न अभोज्य बतलाया गया है। इस सूत्र में एक मनोरंजक बात यह है कि एक स्थान पर (२।६।१-६) ब्राह्मण के लिये क्षत्रियादि तीनों वर्णों का अन्न अभोज्य बताया गया है, फिर आगे चलकर दो बातें उद्धृत की गयी हैं। पहले में कहा गया है कि—सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्ज्यमित्येके (२।६।१२) अर्थात् किसी-किसी आचार्य के मत से शूद्र को छोड़कर स्वधर्म में वर्तमान सभी वर्णों का अन्न ग्रहण किया जा सकता है और दूसरे में (२।६।१३) कहा गया है कि 'तस्यापि धर्मोपनतस्य' अर्थात् दूसरे आचार्यों का मत है कि शूद्र भी अगर अपना धर्मपालन करता हो तो उसका अन्न ग्रहणीय है। इन सूत्रों पर अगर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि सूत्र-काल में छुआछूत से अपवित्र होने की भावना दृढ़ होती जा रही थी; पर उसके विषय में नाना प्रकार के मतभेद तब भी वर्तमान थे। यह ध्यान देने की बात है कि इन सूत्रों में केवल अन्न के दुष्ट होने का ही उल्लेख है, अन्यान्य प्रकार के स्पर्शदोष जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, उन दिनों उद्‌भावित नहीं हुए थे। ऐसा जान पड़ता है कि स्पर्शदोष शुरू में नहीं माना जाता था। बाद में माना जाने लगा। परन्तु वैदिक साहित्य के अन्तिम भाग जब बन रहे थे उन दिनों स्पर्शदोष की भावना जटिल नहीं हुई थी।

---

२०. अन्तरजातीय विवाह

अब इसके दूसरे प्रधान लक्षण—अन्तरजातीय विवाह के विषय में विचार किया जाय। वस्तुतः जातिभेद बताने वाले प्राचीन दृष्टिकोण को समझने के लिये यह विषय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। मनुस्मृति में लगभग ६ दर्जन जातियों और ब्रह्म वैवर्त पुराण आदि में शताधिक जातियों की उत्पत्ति वर्णों के अन्तरजातीय रक्त-सम्मिश्रण से ही बतायी गयी है। किसी-किसी आधुनिक नृतत्त्व विज्ञानी ने भी कहा है कि भारतवर्ष की जातियों का मूल रक्त के सम्मिश्रण से ही हुआ है। प्रसिद्ध नृतत्त्वविद् रिज़ली का भी यही मत है। उन्होंने इसी सिद्धान्त के आधार पर यह स्थिर किया है कि जो जाति जितनी ही ऊँची समझी जाती है, उसमें आर्य-रक्त का उतना ही आधिक्य है और जो जितनी ही छोटी समझी जाती है, उसमें उतना ही कम।

मनुस्मृति और उसके बाद के धर्मशास्त्र में जातियों को भिन्न-भिन्न वर्णों के प्रस्तार या 'परम्युटेशन-कम्बिनेशन' से उत्पन्न बताया गया है। इसका अगर विश्लेषण करें, तो मन्वादि-शास्त्रों के मत से निम्नलिखित पांच प्रकार से जातियाँ बनी हैं :—

(१) वर्णों के अनुलोम-विवाह-जन्य जातियाँ।

(२) वर्णों के प्रतिलोम-विवाह-जन्य जातियाँ।

(३) वर्णों की संस्कार-भ्रंशता-जन्य जातियाँ।

(४) वर्णों में से निकाले हुए व्यक्तियों की सन्तानें।

(५) भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तरजातीय विवाह-जन्य जातियाँ।

इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि वर्णों में रक्त-मिश्रण हुआ है। शुरू-शुरू में ऐसा विधान था कि उच्च वर्ण के लोग अपने-अपने वर्ण के अतिरिक्त निचले वर्णों की स्त्रियों से भी विवाह किया करते थे। मनुस्मृति में भी यह व्यवस्था है, पर साथ ही इस स्मृति में ब्राह्मणादि वर्णों का शूद्रा-सहवास

निषिद्ध भी बताया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि वर्ण-संकरताका जो दोष आगे चलकर बहुत विकट रूप धारण कर गया, वह शुरू में ऐसा नहीं था। ब्राह्मणों और उपनिषदों में पिता के वर्ण के अनुसार पुत्र का वर्ण माना जाता था। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के अनुलोम-विवाहोत्पन्न सन्तानों का जो पिता वर्ण ही माना जाता था, इसके कई उदाहरण मौजूद हैं। प्रतिलोम विवाह के उदाहरण बहुत कम देखने में आते हैं।

किसी-किसी पण्डित ने पारस्कर और गोभिल के गृह्यसूत्रों में से अन्तरजातीय विवाहके प्रमाण निकाले हैं। परन्तु अन्तरजातीय विवाहका अगर प्रतिलोम विवाह भी अर्थ हो तो यह वक्तव्य कुछ विवादास्पद हो जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में (२-१९-१) कवष को दासी पुत्र बताया गया है, पर इससे उनके ब्राह्मण होने में कोई बाधा नहीं पड़ी। इस तरह पञ्चविंश ब्राह्मण (१४-६-६) में वत्स का शूद्र से उत्पन्न होना बताया गया है। जाबाला नामक दासी के पुत्र सत्यकाम को, जिसके पिताका कोई पता नहीं था, हारीतद्रुम ने सत्यवादी देखकर ब्राह्मण रूप में अपना शिष्य स्वीकार किया था, यह कथा बहुत प्रसिद्ध है (छान्दोग्य ४-४-४)। शर्याति पुत्री क्षत्रिय सुकन्या ने ब्राह्मण-च्यवन से विवाह किया था, यह कथा न केवल महाभारत और पुराणों में पायी जाती है वरन् शतपथ ब्राह्मण (४-१-५-७) में भी कही गयी है। इसी प्रकार रथवती की पुत्री ने श्यावाश्व से विवाह किया था (बृहद्देवता ५-५०)। इस प्रकार के अनुलोम-विवाह की चर्चा कई जगह वैदिक साहित्य में आयी है, पर कहीं भी ऐसी चर्चा नहीं है कि इन अनुलोम-विवाहों से उत्पन्न सन्तान किसी तीसरी जाति की हो जाती थी। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपनी पुस्तक में इस विषय के और भी कितने ही उदाहरण संग्रह किये हैं। पर ऐसा जान पड़ता है कि धर्म और स्मृतियों के काल तक आकर अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के सांकर्य से [illegible] जाति के बन जाने की धारणा बद्धमूल होने लगी थी।

इन वर्णसंकर जातियों के विषय में जो शास्त्रीय विचार हैं, उनसे प्रकट है कि यह संकरता तीन प्रकार की हो सकती है—(१) माता-पिता दोनों दो शुद्ध वर्णों के व्यक्ति हों, (२) एक शुद्ध वर्ण और दूसरा वर्णसंकर हो,

और (३) दोनों वर्णसंकर हों। वशिष्ठ धर्मशास्त्र में दस वर्णसंकर जातियोंकी चर्चा है और गौतम-धर्मसूत्र ने दो मत उद्धृत किये हैं—एक के अनुसार वर्णसंकर जातियाँ दस थीं और दूसरे के अनुसार बारह। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इन दोनों शास्त्र-वाक्यों में ऊपर बताते हुए तीन प्रकारों में से केवल पहले को लक्ष्य किया गया है। बौधायन ने जरूर इन तीनों प्रकार के वर्णसंकरों की चर्चा की है, पहली श्रेणी के ग्यारह, दूसरी के दो और तीसरी के भी दो।

हम इन जातियों की सूची देकर पाठकों को नीरस धर्मशास्त्रीय बखेड़ों में नहीं ले जाना चाहते। इनकी चर्चा केवल इसलिये की गयी है कि पाठक इस बात को अच्छी तरह मन में बैठा लें कि वर्णसंकरता की भावना धीरे-धीरे बलवत्तर होती जा रही थी।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि वैदिक साहित्य के अन्तिम अंश जिन दिनों बन रहे थे उन दिनों समाज में स्पृश्यास्पृश्य और वर्णसंकरता के प्रति सतर्कता की भावना बढ़ रही थी। पर इससे उन हजारों जातियों और उनके ततोधिक विचित्र आचारों के विषय में कुछ विशेष नहीं जाना जाता। आचार्य सेन ने नाना शास्त्रीय और अर्वाचीन प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि जातिभेद को वर्तमान रूप में आने देने की मनोवृत्ति आर्यों में अपने आर्येतर पड़ोसियों से आयी है।

भेद के सम्बन्ध में निम्नलिखित नौ सिद्धान्त निश्चित किये थे। आचार्य सेन के ग्रन्थ के पाठकों को इन सिद्धान्तों का सारांश इस प्रकार है—

(१) इस देश के निवासियों की शारीरिक विशेषताओं के सात टाइप हैं (ऊपर देखिये), जिनमें केवल द्रविड़ टाइप ही विशुद्ध देशी टाइप है। हिन्द-आर्य, मङ्गोल और तुर्क-ईरानी टाइप प्रधानतः विदेशी हैं। बाकी तीन अर्थात् आर्य-द्रविड़, शक-द्रविड़ और मङ्गोल-द्रविड़ टाइप द्रविड़ जातियों के साथ विदेशी जातियों के मिश्रण से बने हैं।

(२) इन विशेष टाइपों के बनने में भारतवर्ष का प्राकृतिक भाव से अन्य देशों से अलगाव का प्रधान प्रभाव रहा है। इस अलगाव का नतीजा यह हुआ है कि प्रत्येक आक्रमणकारी जाति अपने साथ बहुत कम स्त्रियों को ले आ सकी है और इसीलिये इस देश की स्त्रियों से विवाह करने को बाध्य हुई है।

(३) इस नियम का एकमात्र अपवाद हिन्द-आर्यों का प्रथम दल रहा है।

(४) भारतीय जन समूह के सामाजिक सङ्गठन में वे दोनों प्रकार की जातियाँ हैं जिन्हें अंग्रेजी शब्द 'ट्राइब' और 'कास्ट'[1] से सूचित किया जाता है।

---

[1] अंग्रेजी का 'कास्ट' (Caste) शब्द उस भाषा में भी नया ही है। यह ठीक उसी वस्तु का द्योतक है जिसे हम हिन्दी में 'जाति' शब्द से समझते हैं। इस शब्द की एक कहानी है। वास्को-डि-गामा के साथ जो पोर्चुगीज़ भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर आये उन्होंने इस देश के निवासियों में यह विचित्र प्रथा देखी। इसे समझाने के लिये गोआ की कौंसिल के रिपोर्ट में Castas या Caste शब्द का प्रयोग किया गया था यह शब्द लैटिन के Castus शब्द पर से बनाया गया था और वंशशुद्धि के अर्थ में प्रयोग किया गया था। इस शब्द की व्याख्या में पोर्चुगीज़ यात्रियों ने छुआछूत की प्रथा को ही अधिक महत्त्व का माना था। तब से यूरोप में 'जाति' शब्द के साथ छुआछूत की भावना का ही प्रधान रूप से सम्बन्ध माना जाता रहा है, यद्यपि जाति का छुआछूत की अपेक्षा विवाह और जन्म से अधिक घनिष्ट और अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

[भारतीय जाति-विज्ञान के विदेशी आलोचकों ने 'ट्राइब' शब्द को इस प्रकार समझाया है—ट्राइब परिवारों या परिवार-समूहों का एक ऐसा दल है जो किसी एक ऐतिहासिक पुरुष, या पौराणिक व्यक्ति या किसी विशेष टोटेम के सन्तान रूप में अपना परिचय देता है। ये साधारणतः एक ही भाषा बोलते हैं, एक ही रीति-नीति का पालन करते हैं और एक विशेष प्रदेश को अपना मूल स्थान बताते हैं। एक ट्राइब का पुरुष या स्त्री दूसरी ट्राइब की स्त्री या पुरुष से विवाह कर सकता है। परन्तु 'कास्ट' में यह बात सम्भव नहीं है। एक कास्ट का व्यक्ति दूसरी 'कास्ट' के व्यक्ति से वैवाहिक सम्बन्ध नहीं कर सकता। पर ऐसा हो सकता है कि एक ही कास्ट के दो ऐसे कुल हों जो अपना मूल पुरुष दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को बताते हों। आभीर (अहीर) मूलतः एक ट्राइब थी जो अब 'कास्ट' में परिणित हो गई है। 'ब्राह्मण' या बनिया कभी भी 'ट्राइब' के रूप में नहीं थे। हिन्दी में ट्राइब के लिये 'सगोत्र जाति' या कबीला और 'कास्ट' के लिये सिर्फ 'जाति' शब्द का व्यवहार किया सकता है]।

(५) सगोत्र जाति और साधारण जाति दोनों ही अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह और अनुलोम विवाहवाले उपविभागों में विभक्त पाये जाते हैं। [अन्तर्विवाह जहाँ एक जाति का व्यक्ति उसी जाति के व्यक्ति से ब्याह करने को बाध्य है, बहिर्विवाह जहाँ एक जाति का व्यक्ति अपनी जाति से बाहर विवाह करने को बाध्य है और अनुलोम विवाह जहाँ एक जाति की स्त्री केवल अपने समान या उच्च वर्ण के पुरुष से विवाह को बाध्य है, निम्नतर वर्ण से नहीं।]

(६) बहिर्विवाह वाली जातियों में की अधिकांश जातियाँ 'टोटेमिस्ट' हैं [टोटेम शब्द की व्याख्या के लिये आचार्य सेन की पुस्तक का पृ० १०५ देखिये]।

(७) जातियों का वर्गीकरण केवल सामाजिक श्रेष्ठता के आधार पर किया जा सकता है पर समूचे भारतवर्ष की जातियों के वर्गीकरण की कोई एक योजना नहीं बनाई जा सकती।

(८) जातियों के सम्बन्ध में स्मृतियों और पुराणों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, अर्थात् जातियाँ सङ्करतावश या भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तरजातीय विवाह के कारण बनी हैं, वे शायद ईरान से लिये गये हैं। यद्यपि

पर पाञ्चरात्र में उसका स्थान और भी महत्त्वपूर्ण है। गीता में एक स्थान पर भगवान् ने बताया है कि चार प्रकार के भक्त मुझे भजते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इनमें ज्ञानी को श्रेष्ठ बताया गया है। महाभारत के शान्तिपर्व के ३४८ वें अध्याय में सात्वतधर्म (पाञ्चरात्र मत) को निष्काम भक्ति का मार्ग बताया गया है और गीता के श्लोक के समान ही एक श्लोक है जिसमें भगवान् ने कहा है कि भक्त तो मेरे चार प्रकार के हैं पर उनमें एकान्ती और अनन्यदैवत ही श्रेष्ठ होते हैं (तेषां चैकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदैवताः)। यहाँ एकान्तिक का अर्थ है निष्काम भक्ति का मार्ग। इस प्रकार पाञ्चरात्र मत में चतुर्व्यूह कल्पना और एकान्तिक भक्तिमार्ग को प्रधानता दी गई है। शंकराचार्य ने (ब्रह्मसूत्र २. २. ४२) वासुदेव के चतुर्व्यूह की उपासना की पांच विधियाँ बताई हैं—(१) अभिगमन अर्थात् मन कर्म और बचन से अवधान पूर्वक देवमन्दिर में गमन, (२) उपादान अर्थात् पूजा द्रव्यों का अर्जन; (३) इज्या अर्थात् पूजा; (४) स्वाध्याय अर्थात् अष्टाक्षर आदि मंत्रों का जप और (५) योग अर्थात् ध्यान। इन विधियों का विरोध शंकराचार्य ने नहीं किया है वे भगवान् के चतुर्धा विभक्त होकर अवस्थान को भी श्रुति-विरुद्ध नहीं मानते। परन्तु वे वासुदेव से जीव की उत्पत्ति की कल्पना को असंगत मानते हैं। किन्तु श्रीमद्भागवत में कई बार भगवान् के चतुर्व्यूहात्मक रूप का स्मरण किया गया है। चौथे स्कंध के चौबीसवें अध्याय में रुद्र ने भगवान् की स्तुति इस प्रकार की है।

> नमः पङ्कजनाभाय भूतसूक्ष्मेन्द्रियात्मने।
> वासुदेवाय शान्ताय कूटस्थाय स्वरोचिषे।
> सङ्कर्षणाय सूक्ष्माय दुरन्तायान्तकाय च
> नमो विश्वप्रबोधाय प्रद्युम्नायान्तरात्मने।
> नमो नमोऽनिरुद्धाय हृषीकेशेन्द्रियात्मने।
> नमः परमहंसाय पूर्णाय निभृतात्मने॥

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि भागवत पुराण का सबसे प्रिय मत ऐकान्तिक भक्ति का मार्ग। यही भागवत का प्रधान प्रतिपाद्य है। ग्यारह

स्कंध के चौथे अध्याय में भगवान् ने उद्धव को बताया है कि मेरे एकान्ती भक्त केवल भक्ति को ही चाहते हैं। कैवल्य या अपुनर्भव भी वे नहीं चाहते—यहाँ तक कि यदि मैं भी उन्हें इन वस्तुओं को दूं तो भी इसकी वाञ्छा नहीं करेंगे—

न किंचित् साधवो धीरा भक्ता एकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मयादत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ।

रामानुजाचार्य ने भागवतों की उपासना की पांच विधियाँ बताई हैं। इन्हीं का परिवर्द्धित रूप नवधा भक्ति है। पांच से नव के विकास की एक सीढ़ी का पता मिल जाता है। ज्ञानामृत सार में, जो संभवतः शंकर के बाद की और भागवत पुराण के पूर्व की रचना है ६ प्रकार की भक्ति बताई गई है—स्मरण, कीर्तन, वन्दन, पादसेवन, अर्चन और आत्मनिवेदन।

भागवत में (७-५-२१-२४) में तीन और बढ़ गए हैं—श्रवण, दास्य और सख्य। आगे चलकर भक्तों ने नाना प्रकार की विवेचना की है। पर ऐकान्तिक भक्ति की श्रेष्ठता सबने स्वीकार की है। मध्यकाल के भक्ति मार्ग में इसी ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की भक्ति के लिये भगवान् के अवतारों की कल्पना आवश्यक है। अवतारों से ही उस लीला का विस्तार होता है जिसका श्रवण और मनन, भक्ति का प्रधान साधन है। अवतारों की विविध लीलाओं के फलस्वरूप ही उन विविध नामों का उद्भव होता है जिनका कीर्तन और जप भक्त के लिये बहुत आवश्यक साधन है। भक्ति के लिये भगवान के साथ वैयक्तिक सम्बन्ध आवश्यक है और अवतार उस संबंध के लिये उपयुक्त सामग्री प्रदान करते हैं। यही कारण है कि मध्यकाल के प्रायः सभी धार्मिक सांप्रदायों ने अवतार की कोई-न-कोई कल्पना अवश्य की है। शिव के भी अनेक अवतारों की चर्चा मिलती है। नकुलीश या लकुलीश शिव के अवतार माने गए हैं, गोरखनाथ और मत्स्येंद्र नाथ को भी शिव का अवतार स्वीकार किया गया है। और तो और आगे चलकर अवतारवाद के घोर विरोधी कबीर को भी अवतार ही स्वीकार किया जाने लगा था।

---

२३. श्री कृष्ण की प्रधानता

वैसे तो अवतारों की संख्या बहुत मानी गई है—हमने देखा है कि यह ६ से बढ़ती-बढ़ती अड़तीस तक पहुँची है परन्तु मुख्य अवतार राम और कृष्ण ही हैं इसमें भी कृष्णावतार की कल्पना पुरानी भी है और व्यापक भी। इन दो अवतारों की प्रधानता स्थापित होने का प्रधान कारण है इनकी लीला-बहुलता। शुरू-शुरू के साहित्य और शिल्प में इनका प्रधान चरित दुष्टों का दमन और भक्तों की उनसे रक्षा ही था पर धीरे-धीरे दुष्टदमन वाला रूप दबता गया और लीला का 'लीला' रूप ही प्रधान होता गया। श्रीकृष्णावतार के दो मुख्य रूप हैं। एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं, कंसारि हैं; दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपीजनवल्लभ हैं, 'राधाधर-सुधापान शालि-वनमाली' हैं। प्रथम रूप का पता बहुत पुराने ग्रंथों से चल जाता है पर दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है। धीरे-धीरे यह दूसरा रूप ही प्रधान हो गया है और पहला रूप गौण। विद्वानों ने अश्वघोष की निम्नलिखित पंक्ति में गोपालकृष्ण का सबसे पुराना प्रामाणिक उल्लेख बताया है। ख्यातानि कर्माणि च यानि सौरेः शूरादयस्तेष्वबला बभूवुः। कालिदास ने 'गोपवेषस्य विष्णोः' चर्चा की ही है। महाभारत के सभापर्व (६८वें अध्याय) में द्रौपदी ने वस्त्राकर्षण के समय भगवान् को जिन नामों से पुकारा उनमें 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय !' भी हैं परन्तु कुछ लोग इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं। परन्तु हरिवंश में तो कृष्णगोपाल की चर्चा में लगभग २० अध्याय लिखे गए हैं। परन्तु श्रीकृष्ण के दुष्टदमन रूप का प्राधान्य उसमें बना हुआ है। उनके जीवन की मुख्य घटनाएँ हरिवंश में निम्नलिखित है—शकट-वध, पूतना वध, दामबंध, यमलार्जुन भंग, वृकदर्शन, वृन्दावन प्रवेश, धेनुकवध, प्रलम्बवध, गोवर्धन धारण, हालीसक, क्रीड़ा, वृषभासुरवध, केशिवध, आदि।

विष्णुपुराण में भी लगभग यही बातें हैं। भागवत में अनेक अन्य प्रसंगों, को जोड़ा गया है। हरिवंश की हालीसक-क्रीड़ा ही भागवत की रासलीला का पूर्व रूप है परन्तु भागवत की रासलीला श्रीकृष्ण जीवन की बहुत ही महत्त्वपूर्ण घटना है। भागवत की रासपंचाध्यायी भागवत का नवनीत मानी गई है और आगे चलकर गोपीजन के साथ अष्ट प्रहर क्रीड़ा ही कृष्णलीला का मुख्य अंग बन गई है। हरिवंश की प्रेमक्रीड़ा बहुत स्थूल शृंगार की है, उसका कवित्वपूर्ण अंश केवल प्रावृट् या पावस का वर्णन है परन्तु भागवत के प्रेमाख्यान में कवित्व और भक्ति का पुट अत्यधिक है। इस प्रेम व्यापार का विरह वाला अंश हरिवंश में उतना विकसित नहीं है, जितना विष्णुपुराण में; पर आगे चलकर इस विरह वाले अंग को बहुत प्रधानता प्राप्त हो गई है। मध्यकाल के अनेक काव्य राधा और गोपियों के विरह को मुख्य प्रतिपाद्य बना कर लिखे गए हैं। रागरागिनियों में इस विरह का विस्तार है और राजपूत और कांगड़ा के चित्र-सम्प्रदाय में विरह का बहुत ही महत्त्वपूर्ण हाथ है। इस प्रकार प्रेम के दोनों ही अंग-संयोग और वियोग—आगे चलकर बहुत महत्त्वपूर्ण हो गए हैं।

रामावतार का महत्त्व भी बहुत अधिक रहा है। पुराने से पुराने प्रसंगों में भी श्री रामचन्द्र का उल्लेख मिलता है। कालिदास ने रघुवंश में विस्तारपूर्वक चर्चा की है कि किस प्रकार विष्णु को भूभारहरण के लिये देवताओं ने प्रसन्न किया। मध्यकाल के साहित्य में श्री रामचन्द्र के चरित को लेकर अनेक काव्य नाटक आदि लिखे गए। सब जगह उन्हें अवतार ही नहीं समझा गया। मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में ही उनका चित्रण है किन्तु इस विषय में कुछ भी सन्देह नहीं कि सर्वत्र यह चरित्र श्रद्धा और भक्ति का विषय रहा है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का विवेचन करके देखा जाय तो उसका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग रामायण द्वारा प्रभावित है।

नवीं-दसवीं शताब्दी के बाद से साहित्य में 'दशावतार चरित' नाम देकर अनेक काव्य लिखे गए। क्षेमेंद्र नामक मौजी बहुश्रुत कवि ने एक बहुत ही सुंदर काव्य इसी नाम से लिखा है। गीत गोविन्द में भक्तकवि जयदेव ने

दशावतार की वन्दना की है। पृथ्वीराज रासो में एक 'दसम' है जो वस्तुतः दशावतार चरित है। इन पुस्तकों में दस अवतारों की स्तुति और चरित लिखे जाते हैं परन्तु प्रधानता राम और कृष्ण अवतारों को ही होती है। मनुष्य रूप में होने के कारण और मनुष्य के प्रभावित करने योग्य लीलाओं का आश्रय होने के कारण इन दो अवतारों को प्रधानता मिल गई है। तुलसीदास जी के बाद से उत्तर भारत में रामअवतार को बहुत प्रमुखता प्राप्त हो गई परन्तु इस क्षेत्र में भी श्री कृष्ण अवतार की महिमा घटी नहीं।

श्री कृष्णावतार की लीलाओं में अद्भुत मानवीय रस है। इसी मानवीय रस को भक्त कवियों ने अत्यन्त उच्च धरातल पर रख दिया है। मनुष्य के जितने भी मनोराग हैं वे सभी भगवान् की ओर प्रवृत्त होकर महान् बन जाते हैं, इसी मनोवृत्ति से चालित होकर भक्त कवियों ने मनुष्य के सभी रागों को भगवदुन्मुख करने का प्रयत्न किया है। लोक में मनुष्य स्त्री-पुत्र के लिये, धन दौलत के लिये और यश कीर्ति के लिये जो कुछ करता है वह खण्ड विच्छिन्न व्यक्ति की ओर उन्मुख होने के कारण खण्ड विच्छिन्न हो जाते हैं पर वे पूर्णतम की ओर प्रवृत्त होने पर समस्त जगत् के मंगल-विधायक बन जाते हैं। इसीलिये भक्त कवियों ने सभी मनोरागों को भगवत्प-रायण करने पर जोर दिया है। भागवत ने इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

यद् युज्यतेऽसुवसु कर्ममनोवचोभिर्देहेन्द्रियादिषु
नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्।
तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य
तद्भवति मूल निषेचनं यत्।

स्पष्ट ही मानवीय मनोरागों में सब से प्रबल राग हैं दाम्पत्य और वात्सल्य के। श्रीकृष्णावतार में इन मनोरागों का उपकरण प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं। भक्त कवियों ने मनुष्य के इन मनोरागों का बहुत ही सुंदर उपयोग किया है।

---

२४. गोपियां और श्री राधा

मूर्तिशिल्प में भी प्रारंभ में इन शृंगार-लीलाओं का उतना प्राधान्य नहीं दिखता। कहा जाता है कि सन् ईस्वी की दूसरी शताब्दी के पहले की कोई भी मूर्ति या उत्कीर्ण भित्तिचित्र श्रीकृष्ण चरित से संबद्ध नहीं मिला है। रायबहादुर श्री दयाराम साहनी ने आर्क्योलाजिकल सर्वे की १९२५-२६ की रिपोर्ट में बताया है कि मथुरा में श्रीकृष्ण के जन्म का उत्कीर्ण चित्र प्राप्त हुआ है जो संपूर्ण नहीं है। चौथी शताब्दी में श्रीकृष्ण-लीला की प्रमुख कथाएं बहुत अधिक लोकप्रिय हो गई थीं, ऐसा ज्ञान पड़ता है। मन्दोर मन्दिर के टूटे हुए दो द्वार-स्तंभ प्राप्त हुए हैं जिनमें गोवर्धन धारण, नवनीत चौर्य, शकट भंग, धेनुकवध और कालियदमन की लीलाएं उत्कीर्ण हैं। विद्वानों का मत है कि इनका निर्माण काल सन् ईस्वी की चौथी या पांचवीं शताब्दी होगा। संभवतः चौथी शताब्दी की एक और गोवर्धनधारी मूर्ति मथुरा में प्राप्त हुई है। महाबलीपुरम् में भी गोवर्धनधारी की उत्कीर्ण मूर्ति मिली है। ऐसा ज्ञान पड़ता है कि गोवर्धनधारण श्रीकृष्ण चरित की सर्वप्रिय लीला उन दिनों रही होगी। सातवीं शताब्दी की बादामी के गुफाओं और भित्तिगात्र पर उत्कीर्ण श्रीकृष्ण-लीलाओं का भी स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में सबसे पुरानी ऐसी मूर्ति मिली है जिसमें कृष्ण एक गोपी (राधा) के साथ हैं। श्री सुनीतिकुमार चटर्जी ने यह सुझाया था कि यह मूर्ति राधा की हो सकती है। पर प्रेमविलास और भक्तिरत्नाकर में लिखा है कि नित्यानन्द प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गईं तो उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख हुआ कि श्रीकृष्ण के साथ राधा की मूर्ति की कहीं पूजा नहीं होती और घर लौटकर उन्होंने नयान भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्तियाँ बनवाईं और उन्हें वृन्दावन भिजवाया। जीव गोस्वामी की आज्ञा से ये मूर्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व में रखी गईं और तब से श्रीकृष्ण के साथ राधिका की भी

गोपियों के नाम, रूप, स्वभाव, वस्त्र आदि का वर्णन किया है। इन भक्त आचार्यों ने चंद्रावती को राधिका की प्रतिद्वन्द्विनी के रूप में चित्रित किया है। इस प्रतिद्वंन्द्विता का आभास भी पद्मपुराण में मिल जाता है परन्तु आगे चलकर बंगाल के वैष्णवों ने इस प्रतिद्वन्द्विता को जितना विस्तार दिया है उतना उत्तर भारत के वैष्णवों ने नहीं दिया। मध्यकाल में दानलीला, नागलीला, बिसातिनलीला, दधिबेंचन की लीला आदि का बहुत महत्त्व रहा है। बंगाल में नौकालीला ने भी प्रमुख स्थान अधिकार किया है जो उचित ही है। रूप स्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में स्पष्ट ही कहा है कि वे जिन गोपियों का नाम बता रहे हैं उनमें कुछ बंगाल में लोक प्रचलित हैं।

---

१. पद्मपुराण की गोपियाँ—राधा, ललिता, श्यामला, धन्या, हरिप्रिया, विशाखा, शैब्या, पद्मा, भद्रा, चंद्रावती, चन्द्रावली, चित्ररेखा, चन्द्रा मदनसुन्दरी, प्रिया, मधुमती, चन्द्ररेखा।

ब्रह्मवैवर्त की गोपियाँ—सुशीला, शशिरोग, चन्द्रमुखी, माधवी, कदम्बमाला, कुन्ती, यमुना, सर्वमंगला, पद्ममुखी, सावित्री, पारिजाता, जाह्नवी, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरी, स्वयंप्रभा, कालिका, कमला, दुर्गा, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति गंगा, अम्बिका, कृष्णप्रिया, चंपा, चंदननन्दिनी, शशिकला, मंगला, सती, नन्दिनी, सुन्दरी, कृष्ण प्राण, मधुमती, चन्दना।

—ब्रजबुलि० पृ० ४७९

२५. साहित्य के माध्यम से धार्मिक संबंध

मध्यकाल की भक्ति-साधना साहित्य के माध्यम से प्रकट हुई है। रसपरक साहित्य का इस प्रकार भक्ति-साहित्य के साथ एकीभाव दुनिया भर के साहित्य में विरल है। देश के विभिन्न भागों में इस भक्ति-साहित्य में मध्यकाल अद्‌भुत एकता स्थापित की थी। साहित्य के माध्यम से स्थापित संबंध बहुत दृढ़ होता है। इस समय ऐसा संबंध और भी आवश्यक हो गया है क्योंकि परिस्थितियाँ कुछ ऐसी विषम हो आई हैं कि यह आशंका होने लगी है कि विभिन्न प्रान्तों में शताब्दियों से बना हुआ संबंध टूट तो नहीं जाएगा। वस्तुतः यह संबंध इतना दृढ़ और गम्भीर है कि उसका टूटना असंभव है। प्रेम का बंधन ढीला भर पड़ सकता है, परन्तु वह ढीला भी क्यों पड़े ? साहित्य के माध्यम से जो संबंध स्थापित होता है उसमें थोड़ी देर जरूर लगती है पर वह टिकाऊ और यथार्थ होता है। भारतवर्ष का दीर्घकालीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रान्तों के राजनीतिक संबंध बनते और बिगड़ते रहे हैं परन्तु सबको एक ही विचारधारा ने दृढ़ता के साथ बाँध रखा है। अगर बहुत पुराने ज़माने की बात छोड़ दें और उत्तरकालिक मध्यकाल की ही बात लें जिसमें भिन्न-भिन्न प्रान्त की भाषाओं का स्वतंत्र विकास होता रहा है तो हमें साहित्यिक संबंध का आश्चर्यजनक संवाद प्राप्त होगा। मलिक मुहम्मद जायसी का पद्‌मावत उनकी मृत्यु के सौ वर्ष के भीतर ही एक बंगाली कवि द्वारा बंगला में अनुवादित हो गया था। तुलसीदास पर भाषा में काव्य लिखने के लिये जब काशी के पंडितों का आक्रमण हो रहा था तो सुप्रसिद्ध वैदान्तिक आचार्य मधुसूदन ने ही उनका पक्ष ग्रहण करके वह प्रसिद्ध श्लोक लिखा था जो तुलसीदास के व्यक्तित्व की उत्तम व्याख्या* है—ये मधुसूदन सरस्वती बंगाली पंडित

---

*आनंदकानने ह्यस्मिन् तुलसीजंगमस्तरुः।
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

बताए जाते हैं। मैंने स्वयं बंगाल के कीर्तनों में तुलसीदास और सूरदास के पद गाए जाते सुना है। नाभादासजी के भक्तमाल का बंगला में जो अनुवाद हुआ वह केवल अनुवाद ही नहीं है, उसका परिवर्धन भी है। इसी भक्तमाल में (बंगला संस्करण) सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास आदि भक्तों की कथाएँ दी हुई हैं जिनको आश्रय करके इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने इन हिंदी कवियों पर प्रथम श्रेणी की कविताएँ लिखी हैं। बंगला भक्तमाल के आधार पर कविवर रवीन्द्रनाथ ने "सूरदासेर प्रार्थना" नामक एक अत्यन्त सुन्दर कविता लिखी है। इसमें एक युग के महाकवि ने दूसरे युग के महाकवि को कल्पना की आंखों से जिस रूप में देखा है वह रूप कमाल की मोहकता लिये हुए है। साहित्य के माध्यम से आज भी हम प्रान्तों में संबंध स्थापित करें। वह हमारी दीर्घकालीन परम्परा के अनुकूल है। इस प्रकार के प्रयत्न से जो शुभ परिणाम प्राप्त होता है वह प्रयोग की अवस्था में नहीं है बल्कि पूर्ण रूप से परीक्षित है।

आज से सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तक भिन्न-भिन्न प्रान्त इतने अधिक अन्तः

नाना भाँति की साधनाओं, विश्वासों और अन्तःसंबद्ध विचारों के सूत्र से कसकर सी-सा दिया गया है। इस सूत्र का एक टांका यदि बंगाल में है तो दूसरा पंजाब में, तीसरा मारवाड़ में और आश्चर्य नहीं कि चौथा मालाबार में निकल आए। भारतवर्ष का मध्यकालीन साहित्य वस्तुतः समूचे भारतवर्ष का एक ही साहित्य है, प्रान्तवार बँटा हुआ विभिन्न बोलियों का नहीं।

मध्यकाल के भक्त कवियों को समझने के लिये हमें थोड़ा वर्तमानकाल से निकलना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, सूरदास शताब्दियों से हिंदी भाषी जनता के हृदयहार बने हुए हैं इसलिये नये सिरे से यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि वे हिंदी से श्रेष्ठ कवि हैं। किन्तु कुछ बातें नये सिरे से कहने की हैं। हम जिस वातावरण में शिक्षित हुए हैं उसकी एक बड़ी विशेषता है कि उसने हमारी समस्त प्राचीन आनुश्रुतिक धारणाओं से हमें लगभग विच्छिन्न कर दिया है। यदि हम सम्पूर्ण रूप से विच्छिन्न भी हो गये होते तो भी हम आधुनिक ढंग से सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकते। परन्तु हम पूर्ण रूप से अनुश्रुतियों से विच्छिन्न भी नहीं हुए हैं और उन्हें जानते भी नहीं हैं। नतीजा यह हुआ है कि श्रीकृष्ण का नाम लेते ही हम पूर्णानन्दघन-विग्रह परम पुरुष की सोचे बिना नहीं रहते और फिर भी गोपियों के साथ उनकी रासलीला की बात समझ नहीं सकते। अर्थात् श्रीकृष्ण को तो हम परम दैवत का रूप मान लेते हैं पर आगे चल-कर हम सारी कथा को तदनुरूप नहीं समझ पाते। इस अधकचरी दृष्टि का परि-णाम यह हुआ है कि हम वैष्णव कवि की कविता को न तो उसके तत्त्ववाद-निरपेक्ष रूप में देख पाते हैं और न तत्त्ववाद-सापेक्ष रूप में। हम झट कह उठते हैं कि भगवान् के नाम पर यह क्या ऊलजलूल बातें हैं! यदि सूरदास के श्रीकृष्ण और राधा कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला की भाँति प्राकृत प्रेमी और प्रेमिका होतीं तो बात हमारे लिये सहज हो जाती पर न तो वे प्राकृत ही हैं और न हमें उनके अप्राकृतिक स्वरूप की वास्तविक धारणा ही है। इसीलिये हम न तो वैष्णव कवियों की कविताओं को विशुद्ध काव्य की कसौटी पर ही कस सकते हैं और न विशुद्ध भक्ति की दृष्टि से ही अपना

गाए जाते हैं। मैंने स्वयं बंगाल के कीर्तनों में तुलसीदास और सूरदास के पद गाए जाते सुना है। नाभादासजी के भक्तमाल का बंगला में जो अनुवाद हुआ वह केवल अनुवाद ही नहीं है, उसका परिवर्धन भी है। इसी भक्तमाल में (बंगला संस्करण) सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास आदि भक्तों की कथाएँ दी हुई हैं जिनको आश्रय करके इस काल के सर्वश्रेष्ठ कवि रवीन्द्रनाथ ने इन हिंदी कवियों पर प्रथम श्रेणी की कविताएँ लिखी हैं। बंगला भक्तमाल के आधार पर कविवर रवीन्द्रनाथ ने "सूरदासेर प्रार्थना" नामक एक अत्यन्त सुन्दर कविता लिखी है इसमें एक युग के महाकवि ने दूसरे युग के महाकवि को कल्पना की आंखों जिस रूप में देखा है वह रूप कमाल की मोहकता लिये हुए है। साहित्य माध्यम से आज भी हम प्रान्तों में संबंध स्थापित करें। वह हमारी दीर्घकाल परम्परा के अनुकूल है। इस प्रकार के प्रयत्न से जो शुभ परिणाम प्राप्त ह हैं वह प्रयोग की अवस्था में नहीं है बल्कि पूर्ण रूप से परीक्षित है।

आज से सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले तक भिन्न-भिन्न प्रान्त इतने अधिक संबद्ध थे कि एक का साहित्य, धर्म और तत्त्ववाद दूसरेके उन्हीं विषयोंकी जा प्राप्त किए बिना समझे ही नहीं जा सकते। सूरदास को अच्छी तरह सम लिये यदि हम सम्पूर्णतः सूरदास के साहित्य तक—या कुछ और अधिक ब्रजभाषा के साहित्य तक ही—सीमा बाँधकर बैठे रहें तो उस मह समुद्र का केवल एक ही पहलू देख सकेंगे जिसे उत्तरमध्यकाल के भ ने अमर वाणी रूप निर्झरिणियों से भर दिया है। सूरदास को समझने विद्यापति, चंडीदास और नरसी मेहता परम आवश्यक हैं। यदि ह सूरदास को समझना चाहते हैं तो चंडीदास और विद्यापति या ऐ कवियों को समझें क्योंकि उन्हें समझे बिना हम बहुत घाटे वस्तुतः इस कोने से उस कोने तक फैले हुए विविध प्रकार के साम रस्म, पूजा-उपासना, व्रत-उपवास, शास्त्रीय मान्यता आदि बातें जनसमूह के अध्ययन के लिये नितान्त आवश्यक उपादान हैं और इन सबसे अधिक आवश्यक वस्तु है तत्कालीन साहित्य के माध्यम से यदि हम अध्ययन शुरू करें तो ऐसा लगेगा कि

नाना भाँति की साधनाओं, विश्वासों और अन्तःद्वंद्व विचारों के सूत्र से कसकर सी-सा दिया गया है। इस सूत्र का एक टाँका यदि बंगाल में है तो दूसरा पंजाब में, तीसरा मारवाड़ में और आश्चर्य नहीं कि चौथा मालाबार में निकल आए। भारतवर्ष का मध्यकालीन साहित्य वस्तुतः समूचे भारतवर्ष का एक ही साहित्य है, प्रान्तवार बँटा हुआ विभिन्न बोलियों का नहीं।

मध्यकाल के भक्त कवियों को समझने के लिये हमें थोड़ा वर्तमानकाल से निकलना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, सूरदास शताब्दियों से हिंदी भाषी जनता के हृदयहार बने हुए हैं इसलिये नये सिरे से यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि वे हिंदी के श्रेष्ठ कवि हैं। किन्तु कुछ बातें नये सिरे से कहने की हैं। हम जिस वातावरण में शिक्षित हुए हैं उसकी एक बड़ी विशेषता है कि उसने हमारी समस्त प्राचीन आनुश्रुतिक धारणाओं से हमें लगभग विच्छिन्न कर दिया है। यदि हम सम्पूर्ण रूप से विच्छिन्न भी हो गये होते तो भी हम आधुनिक ढंग से सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकते। परन्तु हम पूर्ण रूप से अनुश्रुतियों से विच्छिन्न भी नहीं हुए हैं और उन्हें जानते भी नहीं हैं। नतीजा यह हुआ है कि श्रीकृष्ण का नाम लेते ही हम पूर्णानन्दघन-विग्रह परम पुरुष की सोचे बिना नहीं रहते और फिर भी गोपियों के साथ उनकी रासलीला की बात समझ नहीं सकते। अर्थात् श्रीकृष्ण को तो हम परम दैवत का रूप मान लेते हैं पर आगे चलकर हम सारी कथा को तदनुरूप नहीं समझ पाते। इस अधकचरी दृष्टि का परिणाम यह हुआ है कि हम वैष्णव कवि की कविता को न तो उसके तत्त्ववाद-निरपेक्ष रूप में देख पाते हैं और न तत्त्ववाद-सापेक्ष रूप में। हम झट कह उठते हैं कि भगवान् के नाम पर यह क्या ऊलजलूल बातें हैं! यदि सूरदास के श्रीकृष्ण और राधा कालिदास के दुष्यन्त और शकुन्तला की भाँति प्राकृत प्रेमी और प्रेमिका होतीं तो बात हमारे लिये सहज हो जाती पर न तो वे प्राकृत ही हैं और न हमें उनके अप्राकृतिक स्वरूप की वास्तविक धारणा ही है। इसीलिये हम न तो वैष्णव कवियों की कविताओं को विशुद्ध काव्य की कसौटी पर ही कस सकते हैं और न विशुद्ध भक्ति की दृष्टि से ही अपना

सकते हैं। हम सूरदास को भक्त शिरोमणि कहते हैं और दूसरे ही क्षण अफ-सोस के साथ कह उठते हैं कि उनके काव्य में वह प्रबंधगत वैशिष्ट्य नहीं है जो जीवन के प्रत्येक पहलू का आदर्श उपस्थित कर सके! फिर आनन्द-गद्गद् होकर कह उठते हैं, श्रीकृष्ण का बालरूप वर्णन करने में सूरदास ने कमाल की स्वाभाविकता ला दी है। यह सब हमारी दृष्टि की अनाविलता नहीं सूचित करते। हम मध्यकाल के भक्त कवि को गलत किनारे से देखना शुरू करते हैं और आधा-सूधा जो कुछ हाथ लगता है उसीसे या तो झुँझला उठते हैं या गद्गद् हो जाते हैं। मुझे इस बात की शिकायत नहीं है कि लोग खिन्न होते हैं या गद्गद् होते हैं बल्कि इस बात की शिकायत है कि गलत समझ कर वैसा होते हैं। पूछा जा सकता है कि सही दृष्टिकोण क्या है औ वही सही है इसका क्या प्रमाण है! दोनों ही प्रश्नों का उत्तर मैं देने जा रह हूँ पर ये उत्तर मेरी सीमित बुद्धि के हैं और मेरा यह दावा नहीं है कि यह एक मात्र उत्तर है। लेकिन आगे की बातों से इतना मालूम हो ही जायगा मैं ठीक रास्ते ही सोच रहा हूँ।

इन भक्त कवियों ने अपने विषय में बहुत कम लिखा है। अन् उनके नाम के साथ बहुत प्रकार को सिद्धियों और करामातों को ज है। सिद्धियों का युग अभी भी चल रहा था। भक्ति काल में उसमें इतना अन्तर अन्तर आ गया था कि भक्त के लिये भगवान् सब प्रक... करामातों की योजना करते रहते हैं। इन करामाती कहानियों से भक्त के विषय में बहुत अच्छी जानकारी नहीं होती। परन्तु फिर भी कभी कहानियाँ विचित्र रूप से तत्काल प्रचलित विचारों और व्यवहारों का अच्छा परिचय देती हैं।

सूरदास की ही बात ली जाय उन्होंने अपने विषय में विशेष कुछ नहीं लिखा। अनुश्रुति के अनुसार वे सारस्वत ब्राह्मण-वंश में उत्पन्न हुए थे। अपने इर्द-गिर्द जिस समाज को उन्होंने देखा था उसका कोई उच्च आदर्श नहीं था। लोग खाते-पीते थे, रोगी या निरोग होते थे और चार दिन तक हँस या रोकर चल बसते थे। युवावस्था विलास का काल माना जाता था। सारा समा यौवनमद, जन-मद, धन-मद और मादक-मद का शिकार था। क्या पुरुष क्या

सूरदास के विषय में किंवदन्तियां तो बहुत हैं परन्तु प्रामाणिक रूप में इतना ही मालूम है कि वे पहले गऊघाट में रहते थे और बहुत-से चेले बनाए थे। भक्त तो वे पहले ही से थे पर शुरू-शुरू में दास्य-भाव की ओर ही झुके हुए थे। संभवतः उनकी अवस्था जब काफी परिपक्व हो आई थी उसी समय एक बार महाप्रभु वल्लभाचार्य उधर पधारे। गोकुलानाथजी की 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' के अनुसार सूरदासजी जब महाप्रभु से मिलने गए उस समय वे ठाकुरजी को भोग समर्पण करके और स्वयं भी प्रसाद पाके, गादी पर विराजमान हो रहे थे। सूरदास को देखकर उन्होंने कुछ भगवद्भजन करने का आदेश दिया। सूरदासजी ने आज्ञा शिरोधार्य की और मुक्तकंठ से वह गान छेड़ दिए जिनमें अपनी तामसिकता और पाप परायणता के लिये पश्चात्ताप था, अपने को पापियों का शिरोमणि बताया गया था और भगवान् को इस बात के लिये ललकारा गया था कि यदि तुम सचमुच पतितोद्धारक हो तो मुझे उबारने में अपना जोर आज़मा देखो[१]। महाप्रभु ने दो ही भजन सुने और फिर डाँटकर कहा—'सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे को है, कछु भगवत्-लीला वर्णन करि।' सूरदास हैरान। आज तक यह बात तो और किसी ने

(४) सबनि सनेहौ छाँड़ि दयौ।
　　हा यदुनाथ जरा तन ग्रास्यो प्रतिभौ उतरि गयौ॥ इत्यादि
[१] प्रभु मैं सब पतितन को टीकौ।
और पतित सब द्यिवस चारि कौ हौं तो जनमत ही कौ॥
बधिक अजामिल गणिका तारी और पूतना ही को।
मोहि छांड़ि तुम और उधारे मिटै शूल कैसे जी कौ॥
कोउ न समरथ सेव करन को खैंचि कहत हौं लीकौ।
मरियत लाज सूर पतितन के कहत सबन में नीकौ॥
　　　　तथा
हौं हरि सब पतितन कौ नायक।
को करि सकै बरावरि मेरी इते मान को लायक॥　　　इत्यादि

नहीं कहा। भगवत्लीला क्या वस्तु है गुरो, मैं तो उसे नहीं जानता! कहते हैं, इस प्रसंग के बाद ही महाप्रभु ने उन्हें यह लीलावर्णन की विधि सिखाई जो सूरदास के परवर्ती जीवन का एकमात्र अनुराग सिद्ध हुई।

कहते हैं, इस घटना के बाद से सूरदास ने अपने भजन का रास्ता ही बदल दिया। उन्होंने लीला-विषयक पदों की रचना की। यहाँ आकर भक्ति ने साहित्य को इस दृढ़ता के साथ पकड़ा कि पूर्ववर्ती काल में इस कोटिकी रचना का कोई उदाहरण खोज लेना कठिन हो गया है। भगवान् की बाल, कैशोर और यौवन लीलाओं का उन्होंने जम कर वर्णन किया। साहित्य-साधना के माध्यम से भक्ति की साधना प्रकट हुई। इस साहित्य में विनय नहीं है, भक्त की कातर पुकार नहीं है, सूर की घिघियाहट नहीं है। आदि से अन्त तक भगवान् की रसमयी लीलाओं का विस्तार है। यह सारा प्रयत्न लीला-गान का प्रयत्न है, उसका हेतु भी लीला ही है, उद्देश्य भी लीला ही है, प्रयोजन भी लीला ही है।

मध्यकाल में ऐसे अनेक भक्त कवि हैं जिनके साथ कुछ इसी ढंग की कहानियाँ जुड़ी हुई हैं। इन कहानियों से इन साधकों का विशेष दृष्टिकोण स्पष्ट हुआ है। परन्तु सभी साधकों का एक ही लक्ष्य रहा है— लीला-गान।

और आदि पुरुष गोविन्द को अपनी मानसभूमि पर उसी अनुरंजित रूप में देखते हैं[1]।

इस प्रसंग में महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनकाल की एक घटना उल्लेख योग्य मालूम हो रही है। महाप्रभु तीर्थाटन करते हुए दक्षिण देश में पहुँचे। वहाँ के प्रसिद्ध विद्वान और भक्त राय रामानन्द से उनका साक्षात्कार हुआ। दोनों में जो महत्त्वपूर्ण बात हुई वह भगवान् और भक्त के संबंध को लेकर वैष्णवों की दृष्टि को बहुत अच्छी तरह व्यक्त करती है। महाप्रभु ने राय रामानन्द से पूछा कि हे विद्वन, तुम भक्ति किसे कहते हो? राय रामानन्द ने ज़रा सोचकर उत्तर दिया :—

—स्वधर्माचरण ही भक्ति है[2]।

—लेकिन यह भी बाह्य है, और भीतर की बात कहो।

—श्री कृष्ण को समस्त कर्मों का अर्पण कर देना ही भक्ति है[3]।

—लेकिन यह भी ऊपरी बात है, और आगे कहो।

—सर्वधर्म-परित्याग-पूर्वक भगवान् की शरण में जाना ही भक्ति है[4]।

—यह भी बाह्य है, और आगे की कहो।

—भगवान् के प्रति परम प्रेम ही भक्ति है।

—ठीक है, पर यह भी स्थूल है, और आगे की कहो।

---

[1] प्रेमाञ्जनच्छुरितभक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽपि विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

[2] स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः—गी० ३।३५

[3] यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्—गी० ६।२७

[4] सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ —गी० १८।६६

—दास्यप्रेम ही भक्ति है [१]।

—ठीक है, पर यह भी स्थूल है, आगे की कहो।

—सख्यप्रेम ही भक्ति है [२]।

—ठीक है, पर और आगे की बात कहो।

—कान्ताभाव का प्रेम ही भक्ति है [३]।

—बहुत उत्तम। लेकिन और भी आगे की कहो।

—राधा-भाव का प्रेम ही परम भक्ति है।

—हां राधा-भाव ही श्रेष्ठ है, परन्तु प्रमाण क्या है ?

यह लक्ष्य करने की बात है कि महाप्रभु ने केवल अन्तिम बात के लिये प्रमाण मांगा था। पहले जितनी बातें बताई गई हैं उनका प्रमाण उन्होंने नहीं मांगा। वे अतिपरिचित हैं। प्रथम कहे हुए सभी मत श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवत महापुराण से सिद्ध हैं परन्तु भागवत में या गीता में राधाभाव की कोई चर्चा नहीं है। राधारानी का नाम भी भागवत पुराण में नहीं पाया जाता। यह भागवत महापुराण वैष्णवों के लिये श्रुति के समान ही मान्य है। उसमें जिस भाव का नाम नहीं आया वही श्रेष्ठ है—यह बात कैसे विश्वास

---

[१] अहं हरे तव पादैकमूलदासानुदासो भवितास्मि भूयः।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणानां गृणीतवाक् कर्म करोतु कायः॥
—भाग० ६।११।२

[२] बिभ्रद्वेणुं जठरपटयोः शृंगवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यंगुलीषु।
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः॥ भाग० १०।१३।

[३] पुण्या बत व्रजभुवो यदयं नृलिंगगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्य
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं विक्रीडयांचति गिरित्र
ताङ्घ्रिः॥ भाग० १०।१९

की जा सकती है ? राय रामानंद ने इसके उत्तर में गीतगोविंद का मत उद्धृत किया जिसमें बताया गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने राधा को हृदय में धारण करके अन्यान्य व्रजसुंदरियों को त्याग दिया था [1]। सो यह श्लोक इस बात का प्रमाण है कि कान्ताभाव में भी राधाभाव ही सबसे श्रेष्ठ है। यहाँ प्रसंग आ गया है इसलिये इतना और भी कह रखना आवश्यक है कि नाना कारणों से मेरा अनुमान है कि भागवत महापुराण में श्रीकृष्णलीला की जो परंपरा अभिव्यक्त हुई है उससे भिन्न एक और भी परंपरा थी जिसका प्रकाश जयदेव के गीतगोविंद में हुआ है। भागवत-परंपरा की रासलीला शरत् पूर्णिमा को हुई थी, गीतगोविंद-परंपरा का रास वसन्तकाल में। प्रथम में राधा का नाम भी नहीं है, दूसरी में राधिका ही प्रमुख गोपी हैं। सूरदास आदि परवर्ती भक्त-कवियों में ये दोनों परंपराएं एक दूसरे से गुँथकर एक हो गई हैं। परन्तु यह तो अवान्तर बात है। जिस बात की हम यहाँ चर्चा कर रहे थे वह यह है कि भगवान् में जितने संबंध की कल्पना हो सकती है उसमें कान्ताभाव का प्रेम ही श्रेष्ठ माना गया है। वैष्णव भक्तों ने इस संबंध को इतने सरस ढंग से व्यक्त किया है कि भारतीय साहित्य अनन्य-साधारण अलौकिक रस का समुद्र बन गया है।

२७. लीला का रहस्य

परंतु यद्यपि अवतार का हेतु एक यह भी है कि धर्म की ग्लानि और अधर्म के अभ्युत्थान को भगवान् स्वयं आविर्भूत होकर दूर करें[1] परन्तु मुख्य कारण तो भक्तों के लिये लीला का विस्तार ही है[2]। यह लीला दो प्रकार की बताई गई है, प्रकट और अप्रकट। मध्यकाल के भक्त कवियों ने प्रकट लीला का ही गान किया है परन्तु अप्रकट नित्यलीला को वे भूले कभी नहीं[3]।

हमें जो बात अच्छी तरह याद रखने की है वह यह है कि भक्त का भगवान् के साथ जो भी सम्बन्ध क्यों न हो, निखिलानन्द-सन्दोह भगवान् श्रीकृष्ण ही उस प्रेम के आलंबन हैं। आलंबन, जैसा कि सभी जानते ही हैं दो प्रकार के होते हैं, विषय-रूप आलम्बन और आश्रयरूप आलंबन। दुष्यन्त को देखकर अगर शकुन्तला के हृदय में प्रेमभाव उत्पन्न हुआ है तो दुष्यन्त विषय-रूप आलंबन हैं और शकुन्तला आश्रयरूप। वैष्णव भक्त भगवान् को विषयरूप आलंबन के रूप में ही देखते हैं। गोपियाँ, यशोदा, नंद, गोपबाल, उद्धव आदि सभी भक्त आश्रयरूप आलंबन हैं। इन सब की एकमात्र अभिलाषा यही होती है कि भगवान हमसे प्रसन्न हों। अगर हम इस बात को ध्यान में रखे बिना वैष्णव साहित्य को पढ़ेंगे तो हम घाटे में रहेंगे। यह भाव नाना भाव से

---

[1] यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं॥—गी० ४।७

[2] स्वलीलाकीर्तिविस्ताराद् भक्तेष्वनुजिघृक्षया।
अस्य जन्मादिलीलानां प्राकट्ये हेतुरुत्तमः॥
—लघुभागवतामृत में ब्रह्माण्डपुराण का वचन

[3] जगनायक-जगदीस पियारी जगतजननी जगरानी।
नित विहार गोपाल लाल-संग वृन्दावन रजधानी॥ —सूरदास

भक्त कवि की कविता में आएगा। इसी रूप में न देखने का परिणाम यह हुआ है कि सूरदास की वर्णन की हुई श्रीकृष्ण की बाल-लीला को बड़े-बड़े सहृदयों तक ने इस प्रकार समझा है मानों वे स्वभावोक्ति के उत्तम उदाहरण हैं। नहीं, वे स्वभावोक्ति के उदाहरण नहीं हैं, वे उससे बड़ी चीज हैं। संसार के साहित्य की बात मैं नहीं जानता क्योंकि वह बहुत बड़ा है और उसका एक अंशमात्र हमारा जाना हुआ है, परन्तु हमारे जाने हुए साहित्य में इतनी तत्परता मनोहारिता और सरसता के साथ लिखी हुई बाललीला अलभ्य है। बालकृष्ण की एक-एक चेष्टाओं के चित्रण में कवि कमाल की होशियारी और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देता है। न उसे शब्दों की कमी होती है न अलंकार की, न भावों की न भाषा की। क्यों ऐसा है? क्या कारण है कि शताधिक पदों में बार-बार दुहराई हुई बात इतनी मनोरम हो गई है? क्या कारण है कि उपमाओं, रूपकों और उत्प्रेक्षाओं की जमात हाथ जोड़कर इस बार-बार दुहराई हुई लीला के पीछे दौड़ पड़ी है? इसका कारण यशोदा का निखिलानन्दसंदोह भगवान् बालकृष्ण के प्रति एकान्त आत्मसमर्पण है। अपने आपको मिटाकर, अपना सर्वस्व निछावर करके जो तन्मयता प्राप्त होती है वही श्रीकृष्ण की इस बाललीला को संसार का अद्वितीय काव्य बनाए हुए है। यशोदा को उपलक्ष्य करके वस्तुतः सूरदास का भक्त-चित्त ही शत रसस्रोतों में उद्वेल हो उठता है। वही चित्त गोपियों गोपालों—और सबसे बढ़कर राधिका—के रूप में भी अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिये सूरदास की पुनरुक्तियाँ जरा भी नहीं खटकतीं और वाक्चातुर्य इतना उत्तम कोटि का होकर भी व्यंग्यार्थ के सामने अत्यन्त तिरस्कृत हो गया है। वर्णन-कौशल वहाँ प्रधान नहीं है, वह भक्त के महान् आत्मसमर्पण का अंगमात्र है। किन्तु साधक भक्त लोग लीला के विरहरूप को जितनी आसानी से अनुभव कर सकते हैं उतना मिलनरस को नहीं। जिस दिन साधक सिद्ध हो जाता है और भक्ति अर्थात् चिन्मय रस के एकमात्र आकर निखिलानन्दसंदोह भगवान से मिलकर एकमेक हो जाता है उस दिन कुछ कहने को बाकी नहीं रह जाता। इसी सिद्धावस्था को बताने के लिये कबीरदास ने कहा है :—

चमत्कार देखने वाले यशोदा के इस और उस रूप में कोई एकरूपता नहीं खोज पाएँगे। हम आगे चलकर देखेंगे कि राधिका के रूप में सूरदास ने सहज प्रेम का जो चित्र खींचा है वह इसी अपूर्व तन्मय प्रेम का आश्रय-भेद से परिवर्तित रूपान्तर मात्र है। सूरदास ने जिस प्रेम का चित्रण किया है वह अपना उपमान आप ही है। उसमें उस प्रेम का अंश भी नहीं है जो प्रिय की संयोगावस्था में उसकी विरहाशंका से उत्कंठित और वियोगावस्था में मिलन-लालसा से व्याकुल हुआ रहता है। वह संयोग में संलग्न रहना संयोगमय और वियोग में संलग्न रहना वियोगमय है। राधा और कृष्ण के नाम पर प्रेम के काव्य अनेक लिखे गए हैं, रीतिकाल का प्रायः आधा का आधा इसी प्रेम-लीला का चित्र है। उनमें वियोग के सभी स्तरों का—पूर्वराग, मान, प्रेम-वैचित्य या प्रवास—का आलंकारिक ढंग का लेखा मिल सकता है। पर प्रेम का वह वास्तविक चित्रण जिसमें आलम्बन (कान्त) गौण हो जाता है, जिसमें चतुरों के बताए हुए भेद-उपभेद होकर भी धन्य होते हैं और न होकर भी धन्य होते हैं, दुर्लभ है। संस्कृत कवि ने दो प्रेमिका सखियों के रूपक से इस रहस्य को समझाया है : एक के प्रिय ने उसके कपोल पर सुडौल पुष्प मंजरी अंकित कर दी थी। वह अपने प्रेम का यह विज्ञापन गर्व के साथ दिखा रही थी कि दूसरी ने कहा 'ऐ सखी, तू प्रिय की अपने हाथों अंकित मंजरी को इस प्रकार दिखाती हुई गर्व कर रही है यह उचित नहीं है, दूसरी कोई भी इस प्रकार के सौभाग्य का पात्र बन सकती थी यदि हाथ की कँपकँपी बीच में विघ्न न पैदा कर देती[1]!' पहली का प्रेम केवल प्रेम का बाह्य प्रदर्शन है। मंजरी का अंकित होना केवल उस प्रेम का उथलापन ही दिखाता है, असली प्रेम तो वहाँ है जहाँ हाथ कँप जाता है, मंजरी का रूप बन ही नहीं पाता। सो, नाना भावों और विभावों के

---

[1] मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मंजरीति ॥
अन्यापि कापि सखि भाजनमीदृशानां ।
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥

चित्रण मात्र से और राधा और कृष्ण का नाम लेने भर से ही कविता उस श्रेणी की नहीं हो जाती जहाँ राधा या गोपियों के बहाने भक्त अपने आपको दलित द्राक्षा के समान निचोड़ कर अपने परमाराध्य के चरणों में निछावर कर देता है। वहाँ भावों और हावों के सूक्ष्म भेद भूल जाते हैं। महाप्रभु को किसी आलंकारिक रसाचार्य ने जब मिलन और विरह—संयोग और विप्रलंभ—की नाना अवस्थाओं और कोटियों का तत्त्व समझाया तो उन्होंने कातर भाव से विज्जका का बताया जाने वाला वह श्लोक पढ़ा जिसमें कहा गया है 'ऐ सखी तू धन्य है जो प्रिय-मिलन के समय की उसकी कही हुई स्तुतियाँ याद रखे हुई है, एक मैं अभागी हूँ कि प्रिय ज्योंही मुझे स्पर्श करता है त्योंही, कसम खाकर कहती हूँ, जो कुछ भी याद रह जाय[1]। वस्तुतः बाह्य रूप और परिस्थितियाँ अनडूबे मानस के विकल्प हैं। सूरदास उस विकल्प के आडंबर से [illegible]हुत ऊपर हैं। उन्होंने उस प्रेम-निधि को पाया था जो नये रूपों और आकारों [illegible]ा जन्म दिया करता है। बालस्वभाव का वर्णन हो या प्रेमलीला का, सर्वत्र [illegible]गंभीर है। यह जो कान्ताभाव की रति है वह इस देश के निर्गुण भाव के [illegible]पासक भक्तों में भी पाई जाती है। कबीरदास, दादू आदि भक्तों में भी यह [illegible]ाव है परन्तु वहाँ समासोक्ति पद्धति से काम लिया जाता है और लौकिक [illegible]न्ताविषयक प्रीति व्यंजना का विषय होती है।

[illegible]बीरदास प्रायः ऐसे पदों के अन्त में सद्गुरु या संतों का नाम सावधानी से लेते हैं, जिससे आध्यात्मिक प्रीति निश्चित रूप से प्रस्तुतार्थ हो जाती है[2]।

---

[1] धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ॥
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥

[2] तु०—नैहरवा हमकों ना भावै।
साईं की नगरी परम अति सुन्दर जहाँ कोई जाइ न आवै।
चाँद सुरुज जहाँ पवन न पानी को संदेश पहुँचावै!

इस विषय में रवीन्द्रनाथ के गानों में कवित्व इतना अधिक होता है कि वहाँ सहृदय के हृदय की चर्वित अनुभूति के अनुकूल लौकिक और अलौकिक दोनों ही प्रस्तुत हैं और दोनों ही व्यंजना के विषय हो जाते हैं। जब वे कहते हैं—'अरी ओ अभागिन, तुझे कैसी नींद आ गई थी जो प्रियतम के पास आने पर भी जाग नहीं सकी। वह निस्तब्ध रात्रि में आया था, हाथ में उसके वीणा थी, तेरे स्वप्न में उसने गंभीर रागिणी बजा दी और तू सोती ही रही! हाय जाग के देखती हूँ दक्खिनी हवा को पागल बनाकर उसका सौरभ अंधकार में व्याप्त होकर प्रवाहित हो रहा है! हाय, क्यों मेरी रात व्यर्थ चली जाती है, उसे नजदीक पाकर भी नहीं पा सकती, क्यों उसकी माला का स्पर्श मेरे वक्षःस्थल को नहीं लगने पाता[1]!' तो प्रस्तुतार्थ लौकिक प्रेम भी हो सकता है और अलौकिक भी। किन्तु सारा पदबंध सहृदय को एक अलौकिक रसानुभूति

दरद यह सांई को सुनावै!
आगे चलौं पंथ नहिं सूझै पीछे दोप लगावै।
केहि विधि ससुरे जांव मोरी सजनी विरहा जोर जनावै।
विषै रस नाच नचावै।
बिन सतगुरु अपनो नहिं कोई जो यह राह बतावै।
कहत कबीर सुनो भाई साधो सपने न प्रीतम पावै।
तपन यह जियकी बुझावै॥

[1] से ये पाशे एसे बसेछिल तबु जागिनि
की घूम तोर पेयेछिल हतभागिनी!
एसेछिल नीरव राते वीणा खानि छिल हाते
स्वपन माझे बाजिये गेल गभीर रागिणी।
जेगे देखि दखिन हावा पागल करिया।
गंध ताहार भेसे वेड़ाय आंधार भरिया
केन आमार रजनी जाय, काछे पेये काछे ना पाय
केन गो तार मालार परश बुके लागिनि। (गीतांजलि)

कराए बिना विश्रान्त नहीं होता। वैष्णव भक्तों (सगुण मार्गी) का रास्ता दूसरा है, वे भगवान् के साक्षाद्विग्रहवान् रूप की लीला गाते हैं और गोपियों के बहाने अपना प्रीति-निवेदन करते हैं।

साधारण आदमी पूछ सकते हैं कि भक्त कान्ताभाव से ही परम शक्ति की उपासना क्यों करता है? भगवान् को प्रिया के रूप में समझकर क्या उपासना नहीं हो सकती? हो सकती है। इस देश में इस प्रकार की उपासना-पद्धति भी अनजानी नहीं है, पर भक्त जिस कारण से अपने को भगवान् की कान्ता समझने में आनन्द अनुभव करता है, वह उपेक्षणीय नहीं है। आगम शास्त्रियों का विश्वास है कि भगवान् ने लीला के लिये जब सृष्टि उत्पन्न करनी चाही तो अपने को उन्होंने द्विधाविभक्त किया। इसमें एक ओर तो नारायण हुए और दूसरी ओर उनकी शक्ति लक्ष्मी। शक्ति निषेधव्यापाररूपा होती है, क्योंकि भगवान् की उस इच्छा का रूप है जिसके द्वारा वे 'कुछ' के अभाव को अनुभव करते हैं। स्त्री में इसी शक्ति का प्राधान्य है। इसलिये स्त्री निषेधव्यापाररूपा या अपने आप को समर्पण करके ही सार्थक होती है। भक्ति में इसी निषेधव्यापार या आत्म-समर्पण का भाव सेवक में स्वामी के लिये, माता-पिता में सन्तान के लिये और मित्र में मित्र के लिये भी होता है, फिर भी कान्त के लिये आत्म-समर्पण की भावना चरम-सीमा पर पहुँचती है। यही कारण है कि भक्त कान्ताभाव के भजन को इतना श्रेष्ठ समझता है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि लौकिक प्रीति होने पर प्रेम जड़ोन्मुख होता है और इसलिये कान्ताभाव में जड़ासक्ति ही चरम रूप में विद्यमान होती है। लौकिक प्रीति का विषय होने पर यह प्रेम शृंगाररस का विषय होता है और सब प्रेमों के नीचे पड़ जाता है, परन्तु जब यह चिन्मुख होता है अर्थात् भगवद्विषयक होता है, इसका नाम उज्ज्वल रस होता है। यही श्रेष्ठ रस है। जिन लोगों में आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य नहीं है वे इस रास्ते को नहीं अपनाते। परन्तु भक्ति भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है और उसमें ऊपर बताए हुए किसी-न-किसी प्रकार

के आत्म-समर्पण का मार्ग ही स्वीकार करना पड़ता है। सूरदास में वात्सल्य, सख्य और मधुर भावनाओं का बड़ा ही उत्तम परिपाक हुआ है। हमने अपनी अन्य पुस्तकों में विस्तृत रूप से इन बातों की चर्चा की है। यहाँ हम अधिक कुछ न कहकर भक्त कवियों की राधिका के उस प्रेम की चर्चा करना चाहते हैं, जो उन की अपनी विशेषता है। इस प्रेम के पूर्ण चित्र को दिखाने का हम समय न पा सकेंगे परन्तु उस विरह रूप को कुछ अधिक विस्तार के साथ ही दिखाने का प्रयत्न करेंगे जिसने साधक भक्त अपनी कातर मनोवाञ्छा बार-बार प्रकट कर सका है और इसीलिये जो भक्त कवि को समझने में सबसे बड़ा सहायक है।

कराए बिना विश्रान्त नहीं होता। वैष्णव भक्तों (सगुण मार्गी) का रास्ता दूसरा है, वे भगवान् के साक्षाद्विग्रहवान् रूप की लीला गाते हैं और गोपियों के बहाने अपना प्रीति-निवेदन करते हैं।

साधारण आदमी पूछ सकते हैं कि भक्त कान्ताभाव से परम शक्ति की उपासना क्यों करता है? भगवान् को प्रिया के रूप में समझकर क्या उपासना नहीं हो सकती? हो सकती है। इस देश में इस प्रकार की उपासना-पद्धति भी अनजानी नहीं है, पर भक्त जिस कारण से अपने को भगवान् की कान्ता समझने में आनन्द अनुभव करता है, वह उपेक्षणीय नहीं है। आगम शास्त्रियों का विश्वास है कि भगवान् ने लीला के लिये जब सृष्टि उत्पन्न करनी चाही तो अपने को उन्होंने द्विधाविभक्त किया। इसमें एक ओर तो नारायण हुए और दूसरी ओर उनकी शक्ति लक्ष्मी। शक्ति निषेधव्यापाररूपा होती है, क्योंकि भगवान् को उस इच्छा का रूप है जिसके द्वारा वे 'कुछ' के अभाव को अनुभव करते हैं। स्त्री में इसी शक्ति का प्राधान्य है। इसलिये स्त्री निषेधव्यापाररूपा या अपने आप को समर्पण कर ही सार्थक होती है। भक्ति में इसी निषेधव्यापार या आत्म-समर्पण का भ सेवक में स्वामी के लिये, माता-पिता में सन्तान के लिये और मित्र में मित्र लिये भी होता है, फिर भी कान्त के लिये आत्म-समर्पण की भावना चरम-सी पर पहुँचती है। यही कारण है कि भक्त कान्ताभाव के भजन को इतना श्रे समझता है।

यह ध्यान में रखने की बात है कि लौकिक प्रीति होने पर ; जड़ोन्मुख होता है और इसलिये कान्ताभाव में जड़ासक्ति ही चरम रूप विद्यमान होती है। लौकिक प्रीति का विषय होने पर यह प्रेम शृंगाररस-विषय होता है और सब प्रेमों के नीचे पड़ जाता है, परन्तु जब यह चिन्मुख होता है अर्थात भगवद्विषयक होता है, इसका नाम उज्ज्वल रस होता है। यही श्रेष्ठ रस है। जिन लोगों में आत्मसमर्पण की भावना का प्राधान्य नहीं है वे इस रास्ते को नहीं अपनाते। परन्तु भक्ति भगवान् के प्रति अनन्यगामी एकान्त प्रेम का ही नाम है और उसमें ऊपर बताए हुए किसी-न-किसी प्रकार

के आत्म-समर्पण का मार्ग ही स्वीकार करना पड़ता है। सूरदास में वात्सल्य, सख्य और मधुर भावनाओं का बड़ा ही उत्तम परिपाक हुआ है। हमने अपनी अन्य पुस्तकों में विस्तृत रूप से इन बातों की चर्चा की है। यहाँ हम अधिक कुछ न कहकर भक्त कवियों की राधिका के उस प्रेम की चर्चा करना चाहते हैं, जो उन की अपनी विशेषता है। इस प्रेम के पूर्ण चित्र को दिखाने का इस समय न पा सकेंगे परन्तु उस विरह रूप को कुछ अधिक विस्तार के साथ ही दिखाने का प्रत्यन्न करेंगे जिससे साधक भक्त अपनी कातर मनोवाञ्छा बार-बार प्रकट कर सका है और इसीलिये जो भक्त कवि को समझने में सबसे बड़ा सहायक है।

---

२८. राधिका का स्वरूप

यदि विशुद्ध काव्य की दृष्टि से देखें तो राधिका विशुद्ध गीतिकाव्यात्मक पात्र है। इस गीतिकाव्य का उत्तम विकास चंडीदास के पदों में हुआ है। चंडीदास की राधिका परकीया नायिका हैं और उनका मिलन क्षणिक और उत्कंठापूर्ण होता है। परन्तु सूरदास की राधिका न केवल स्वकीया नायिका हैं, बल्कि उनका प्रेम चिरसाहचर्यजन्य और उत्कंठाहीन है। मुझे आचार्य नंदलाल वसु ने बताया था कि आर्ट में इस प्रकार देखा गया है कि गीतिकाव्यात्मक मनोरागों को आश्रय करके महाकाव्यात्मक शिल्पका निर्माण हुआ है। ताजमहल ऐसा ही महाकाव्यात्मक शिल्प है, जिसका मूल मनोराग गीतिकाव्यात्मक या लिरिकल है। सूरसागर भी इसी प्रकार का महाकाव्यात्मक शिल्प है जिसका मूल मनोराग लिरिकल या गीतिकाव्यात्मक है। हिन्दी में एक ऐसे समालोचकों का दल पैदा हुआ है जो हर काव्य में महाकाव्य या प्रबन्ध काव्य का गुण खोजता है और न पाने पर अफसोस प्रकट करता है। ऐसे समालोचकों की लपेट से सूरदास भी नहीं बचे हैं। ये लोग एकदम भूल जाते हैं कि काव्य के प्रतिपाद्य के भीतर ही गीतिकाव्यात्मकता हो सकती है और उस प्रतिपाद्य को लेकर महाकाव्य की रचना उपहासास्पद प्रयत्न हो सकता है। सूरदास ने यदि राधिका के प्रेम को लेकर गीतिकाव्य की रचना न करके प्रबन्धकाव्य की रचना की होती, तो असफल हुए होते। परन्तु मैंने शुरू में ही आपसे बताया है कि गीतिकाव्यात्मक मनोरागों पर आधारित विशाल महाकाव्य ही सूरसागर हैं। वर्णना-नैपुण्य और भाषागत माधुर्य के प्रवाह में पड़ा हुआ सहृदय यह भूल ही जाता है कि सूरदास ने राधिका और श्रीकृष्ण के प्रेम का एक ऐसा संपूर्ण चित्र खींचा है, जो गीतिकाव्यों के भीतर से महाकाव्य के रूप में प्रकट हुआ है। सूर-साहित्य में विस्तारपूर्वक मैंने इस विषय की चर्चा की है। अन्य भक्तकवियों की भाँति सूरदास ने राधिका और कृष्ण

को एकाएक नहीं मिला दिया। यही कारण है कि पूर्वराग की वह व्याकुल वेदना सूरसागर में नहीं मिलेगी, जो चंडीदास या विद्यापति की पदावलियों में प्राप्य है। परन्तु इसमें एक विशेष प्रकार की वेदना है, जो सूरदास की अपनी विशेषता है। राधिका और कृष्ण एक ही साथ खेलते-खाते बड़े होते हैं, फिर भी पूर्वराग की एक विचित्र वेदना दोनों ही अनुभव करते हैं! यह कुछ ऐसी चीज है जिसे कोई आलंकारिक बता नहीं सका। इस विषय में हम आगे विस्तारपूर्वक विचार करेंगे। यहाँ प्रकृत प्रसंग है राधिका का स्वरूप। संक्षेप में श्री राधिका भगवान् की ह्लादिनी शक्ति हैं। सत् चित् और आनन्द-स्वरूप परब्रह्म की ह्लादिनी शक्ति ही उसकी विशेषता है। सत् चित्—सत्ता और चैतन्य तो जीव में भी पाए जाते हैं, ब्रह्म की विशेषता उसका आनन्दमय रूप है। राधा उसी आनन्दमयता को रूप देनेवाली ह्लादिनी शक्ति हैं। इसीलिये राधिका और गोपियों में श्रेष्ठ हैं। मध्यकाल के भक्तों ने अपने में गोपियों का या कृष्ण सखाओं का अभिमान करके—अपने को गोपी या गोपाल समझ करके—भगवान् से प्रीति करने की साधना की थी पर राधिका रूप का अभिमान करने का दावा बहुत कम भक्तों ने किया। यह दुर्लभ साधना बहुत ही महान् मानी गई। बंगाल के श्री चैतन्यदेव ने, कहते हैं, इसी महाभाव की साधना की थी।

यह साधना कठिन क्यों है? क्योंकि राधिका रूप, गुण, शील और औदार्य की ऐसी परिपूर्ण मूर्ति हैं कि प्राकृत मनुष्य के लिये उनका अभिमान लगभग असंभव है। फिर भी राधा देवी के गुणों का बखान करके और भगवान् के साथ की गई उनकी लीलाओं का स्मरण करके भक्त उस महिमा का किंचित् अनुभव करता है। भक्त कवियों ने राधा की लीलाओं का खूब वर्णन किया है।

परन्तु भक्त वस्तुतः विरह की अवस्था में ही भगवान् की लीलाओं का ठीक-ठीक अनुभव कर सकता है। यही उसकी साधकावस्था में संभव है। संयोगावस्था तो सिद्धावस्था की बात है। विरह में ही भक्त साधकावस्था के अनुभव प्राप्त करता है।

आगे की पंक्तियों में राधिका की विरहावस्था की बातें बताई जा रही हैं। यह भक्त कवियों की अनुभूति का ही एक रूप है।

२६. गीतगोविंद की विरहिणी राधा

भक्त कवि जयदेव का 'गीतगोविन्द' एक अद्भुत रचना है। सैकड़ों वर्षों से वह भक्तों का कंठहार बना हुआ है। राधारानी के जिस प्रेममय हृदय का चित्रण इस ग्रंथ में पाया जाता है वह अतुलनीय है। सुदूर प्रवास का वर्णन इस ग्रंथ में नहीं हुआ है। नहीं हुआ है, यही खैर है। नहीं तो जिन उद्दाम प्रेममयी राधिका का दर्शन पुस्तक का प्रथम पृष्ठ खोलते ही होता है, उसकी जो दशा सुदूर प्रवास के वियोग में दिखाई पड़ती उससे हृदय टूक-टूक हो जाता। राधिका के पूर्व राग और मान के समय जो प्रेम दिखाई देता है यह कोई बाधा नहीं मान सकता। शुरू में ही देखते हैं, वसंत में वासंती कुसुमों के समान सुकुमार अवयवों से उपलक्षिता राधा गहन वन में बारम्बार श्रीकृष्ण का अन्वेषण करके थक-सी गई हैं। फिर भी विराम नहीं, खोज जारी ही है। कन्दर्प ज्वर—उत्कट प्रेमपीडा की चिंता से वे अत्यधिक कातर हो उठी हैं। सखी उनसे धीरे-धीरे सरस वाक्यों में भगवान् का गुणगान कर रही है—

वसन्ते वासन्तीकुसुमसुकुमारैरवयवै-
भ्रंमन्ती कान्तारे बहुविहितकृष्णानुसरणाम् ;
अमन्दं कंदर्पज्वरजनितचिंताकुलतया
वलद्बाधां राधां सरसमिदमूचे सहचरी।

सहचरी ने श्रीकृष्ण की जिस लीला का वर्णन किया वह किसी भी युवती को हताश कर सकती थी। वसन्त का सरस समय है, मलय-मारुत ललित लवंगलता के परिशीलन से कोमल हो गया है, कुंजकुटीर में भौंरो का झुंड गुंजार कर रहा है. कोकिल कूज रहे हैं, ऐसा है वह देश और ऐसा है वह काल !— विरहियों के लिये दुरन्त, दारुण ! भगवान् गोप-ललनाओं के साथ केलिक्रीड़ा में रत हैं—

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे,
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुंजकुटीरे ।
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते ।
नृत्यति युवतिजनेन समं सखि विरहिजनस्य दुरन्ते ।

सखी और आगे बढ़ती है । बताती है, यह वसन्त का समय सचमुच दारुण है । विरहिणी पथिक-वधू के हृदय में एक ही साथ हर्ष और काम का उद्बोधन हुआ है, वह रो रही है । भ्रमरयूथ से घिरे हुए पुष्पों से मौलसिरी के वृक्ष भरे हुए हैं; तमाल के नये किसलयों ने कस्तूरी के सौरभ को वश में कर लिया है; लाल पलाश-पुष्पों को देखकर जान पड़ता है कि ये युवक-युवतियों के हृदय विदीर्ण करनेवाले मनसिज के रक्तविलित नख हैं; नागकेसर के श्वेत पटल-शोभित पीले-पीले फूल मदनमहीपति के सुवर्णदंडयुक्त छत्र की छवि धारण किए हैं; पाटल-पुष्पों पर मिली हुई भौरों की टोली देखकर अनुमान होता है कि कामदेवता का तूणीर (तरकस) है; संसार को विगलित और लज्जित देखकर ही मानो तरुण (नया) करुण का श्वेत पुष्प हँस रहा है; विरहियों को वेधने के लिए कुंत (भाले) के समान मुँहवाले केतकपुष्पों ने दिशाओं को विषम कर दिया है; माधवी के परिमल से वसन्त-काल ललित और नवमालती तथा जाती-पुष्पों से शोभित हो गया है; तरुणों के अकारण बन्धु, मुनिमन के मोहक तरुण रसाल वृक्ष इस वसन्त-काल में हिलती हुई माधवी लता के आलिंगन से पुलकित हैं । ऐसे समय में समीपवर्ती यमुनाजल से पवित्र और शीतल वृन्दावन में भगवान् युवतियों के साथ खेल रहे हैं—

उन्मदमदनमनोरथपथिकवधूजनजनितविलापे ।
अलिकुलसंकुलकुसुमसमूहनिराकुलबकुलकलापे ॥ विह० ॥

मृगमदसौरभरभसवशंवदनवदलमालतमाले ।
युवजनहृदयविदारणमनसिजनखरुचिकिंशुकजाले ॥ विह० ॥

मदनमहीपतिकनकदंडरुचिकेशरकुसुमविकासे ।
मिलितशिलीमुखपाटलपटलकृतस्मरतूणविलासे ॥ विह० ॥

विगलितलज्जितजगदवलोकनतरुणकरुणकृतहासे ।
विरहिनिकृन्तनकुंतमुखाकृतिकेतकदन्तुरिताशे ॥ विह० ॥
माधविकापरिमलललिते नवमालतिजातिसुगंधौ ।
मुनिमनसामपि मोहनकारिणि तरुणाकारणबन्धौ ॥ विह० ॥
स्फुरदतिमुक्तलतापरिरम्भण मुकुलितपुलकितचूते ।
वृन्दावनविपिने परिसरपरिगतयमुनाजलपूते ॥ विह० ॥
श्रीजयदेवकवेरिवमुदयति हरिचरणस्मृतिसारम् ।
सरसवसन्तसमयवनवर्णनमनुगतमदनविकारम् ॥ विह० ॥

सखी ने आगे चलकर "अनेकनारीपरिरंभसंभ्रमस्फुरन्मनोहारि विलास लालसं" भगवान् को दिखाते हुए जो कुछ कहा उससे किसी भी प्रेमिका की प्रेम-लालसा शिथिल पड़ सकती थी। भगवान् का रूप सचमुच ईर्ष्या का उद्वेलक था—उनका नील कलेवर चंदन से चर्चित था, उस पर पीत वस्त्र लहरा रहा था, इन दोनों के ऊपर वनमाला बहार दे रही थी, गण्डस्थल पर लटके हुए मणिकुंडल केलि के वेग से हिल रहे थे। इस प्रकार हँसते हुए श्यामसुंदर मुग्ध व्रजांगनाओं के साथ केलि कर रहे थे—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली ;
केलिचलन्मणिकुंडलमंडितगण्डयुगः स्मितशाली ।
हरिरिह मुग्धवधूनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे ।

राधिका ने और भी सुना—सबको अनुरंजित करके आनंद देते हुए, नील कमल की श्रेणी के समान सुंदर अंगों से अनंगोत्सव-समारोह में लगे हुए, स्वच्छंद भाव से व्रजललनाओं द्वारा आलिंगित मुग्ध माधव इस वसन्त में साक्षात् शृंगार की भाँति क्रीड़ा कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नंगैरनंगोत्सवम् ;
स्वच्छन्दं व्रजसुंदरीभिरभितः प्रत्यंगमालिंगितः
शृंगारः सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीड़ति ।

इतना पर्याप्त था। अपने प्रेम का पराभव देखकर राधिका ठिठ गईं। वे उलटे पांव लौट आईं। पर हाय! इस लौटने में जो कसक थी जो टीस थी, उसे क्या किसी ने देखा? अपना सर्वस्व लेकर चली हुई, प प्रेम के सिंहद्वार से लौटती हुई, प्रणयिनी के हृदय को किसने समझा है? राध का सारा हृदय-सौंदर्य यहीं फूट पड़ा है। पारखी जयदेव ने उसे देखा था पास ही एक लताकुंज था, मधुव्रतों की मंडली उस पर गुंजार कर रह थी, उसी में छिपी हुई दीन राधिका सखी से बोलीं। उनका हृदय बैठ चुक था। जिसे एकमात्र अपना ही धन समझ रखा था उसे गोपवधुओं से समावृ देखकर वे कातर हो उठी थीं। फिर भी बोलीं—

क्वचिदपि लताकुंजे गुंजन्मधुव्रतमंडली ;
मुखरशिखरे लीना दीनाऽप्युवाच रहः सखीम्।

राधिका ने जो कुछ भी कहा वह मानिनी प्रणयिनी के योग्य नहीं है उसमें एक कातरता है, उसमें एक दुर्बलता है। कातरता का कारण प्रिय समागम की उत्कट लालसा है और दुर्बलता का कारण प्रेम की अनन्यता वे कहती हैं—

हे सखी, रास में विलास करते हुए, नर्म केलि से मुसकुराते हु भगवान् को मेरा मन स्मरण कर रहा है। कैसे थे वह सुंदर श्याम?

वे मोहन वंशी बजा रहे थे, जिसकी ध्वनि अधर-सुधा के संचार से और भी मधुर हो उठी थी; दृगंचल और मौलिदेश चंचल हो रहे थे; इसीलि कपोल पर लटके हुए आभूषण भी हिल रहे थे—

संचरदधरसुधामधुरध्वनिमुखरितमोहनवंशम् ;
चलितदृगंचलचंचलमौलिकपोलविलोलवतंसम्।
रासे हरिमिह विहितविलासम्
स्मरति मनो मम कृतपरिहासम्।

चंद्रकार चिह्नों से खचित सुंदर मयूरपक्ष के मंडल से उनका के वेष्टित था, प्रचुर इंद्रधनुष से अनुरंजित सान्द्र स्निग्ध मेघ की भाँति उनक वेश बड़ा ही प्रियदर्शन था—

चंद्रकचारुमयूरशिखंडकमंडलवलयितकेशम् ।
प्रचुरपुरंदरधनुरनुरंजितमेदुरमुदिरसुवेशम् ॥ रासे० ॥

गोपवधूटियों के मुखचुंबन में उन्होंने उनको लोभ प्राप्त करा दिया था, उनके बन्धुजीव पुष्पों के सामान लाल-लाल मधुर-पल्लवों पर मुसकुराहट की शोभा उल्लसित हो रही थी—

गोपकदम्बनितम्बवतीमुखचुम्बनलंभितलोभम् ।
बन्धुजीवमधुराधरपल्लवमुल्लसितस्मितशोभम् ॥ रासे० ॥

विपुल रोमांच से कंटकित भुजपल्लवों द्वारा उन्होंने अनेक गोपांगनाओं का आलिंगन किया था, उनके हाथों, चरणों और हृदय-देश पर जो मणियों के अलंकार थे उनकी किरणों से अंधकार नष्ट हो रहा था—

विपुलपुलकभुजपल्लववलयितवल्लवयुवतिसहस्रम् ;
करचरणोरसि मणिगणभूषणकिरणविभिन्नतमिस्रम् ।

उनके ललाट पर का चन्दन मेघ-पटल पर चलते हुए चंद्रमा की शोभा का तिरस्कार कर रहा था, केलि विशेष से उनके हृदय की कठोरता प्रकट-सी हुई जा रही थी—

जलदपटलचलदिन्दुविनिन्दकचन्दनतिलकललाटम् ;
पीनपयोधरपरिसरमर्दननिर्दयहृदयकपाटम् ।

मणि-निर्मित मकर-से मनोहर कुंडल से उनका गण्डस्थल सुशोभित था, वे पीत वस्त्र धारण किये हुए थे। मैं उनकी सहज उदारता इसीसे अनुमान कर सकती हूँ कि मुनिगण, मनुष्य, देवता और राक्षसों का परिवार भी उनका अनुगत है—

मणिमयमकरमनोहरकुंडलमंडितगंडमुदारम्;
पीतवसनमनुगतमुनिमनुजसुरासुरवरपरिवारम् ।

विशद कदम्ब-तरु के नीचे सम्मिलित जनों के कलिकलुष को वे शमन कर रहे थे और मुझे भी तरंगित प्रेमदृष्टि और मन से रमण कर रहे थे—

विशदकदम्बतले मिलितं कलिकलुपभयं शमयन्तम्,
मामपि किमपि तरंगदनंगदृशा मनसा रमयन्तम् ।

यह सब जानकर भी राधिका अत्यन्त कातरतापूर्वक सखी से प्रार्थना करती हैं कि मुझे कृष्ण से मिला दे—

सखि हे केशिमथनमुदारम् ।

रमय मया सह मदनमनोरथभावितया सविकारम् ।

क्या हुआ अगर वे बहु-वल्लभ हैं, क्या हुआ अगर वे हमारे प्रेम की चिंता नहीं करते—हम तो उन्हींकी हैं। उनके बिना कोई गति नहीं। व्रजसुंदरीगण से आवृत हों, तो भी मैं उन्हें देखकर प्रसन्न हूँगी—

'गोविंदं व्रजसुंदरीगणवृतं पश्यामि हृष्यामि च ।'

यही राधिका के हृदय की दुर्बलता है। इस दुर्बलता के कारण ही उनका प्रेम इतना वेगवान् हो सका है। इसी कातरता की आँच में तपकर यह सोना निखर पड़ा है।

भगवान् भी राधिका को न पाकर उदास हो गए थे। उनका विरह भी बड़ा मर्मभेदी है। यमुना तीर के वानीर निकुंज (वेत्रवन) में वे चुपचाप बैठे थे। राधिका की सखी वहीं जाकर उनकी प्रियतमा का वर्णन करती है—

हे माधव, वह तुम्हारे विरह से कातर है। वह भावना से तुम्हीं में लीन हो गई है—छिप गई है। शायद उसे मनसिज के बाणों से डर लगता है—

सा विरहे तव दीना ।

माधव मनसिजविशिखभयादिव भावनया त्वयि लीना ।

वह चन्दन की निंदा करती है, अधीर भाव से चन्द्रमा की किरणों से दुःख पा रही है। मलय पर्वत से, जहाँ पर सर्पों का वास है, आई हुई हवा को विष की तरह समझती है। उसके हृदय पर अनवरत प्रेम के देवता के बाणों की वर्षा हो रही है। उसी हृदय में तुम्हारा निवास है। इसीलिये अपने विशाल हृदय को सजल नलिनी-दल के जाल से घेर कर कवच बना रही है। उसका विचार है कि ऐसा करके वह तुम्हें उन बाणों के आघात से बचा लेगी। वह विशेष विलास-कला के लिये मनोहर कुसुम-शयनों की रचना कर रही है। पर इसलिये नहीं कि उससे आराम मिलेगा। उस विरहिणी को आराम कहाँ? ये कुसुम-शयन तो उसके लिये बाणशय्या के समान हैं। तथापि वह इनकी रचना

कर रही है। इस दुःख की तपस्या वह तुम्हारे परिरंभ (आलिंगन) सुख की प्राप्ति के लिये कर रही है—

अविरलनिपतितमदनशरादिव भवदवनाय विशालम्;
स्वहृदयमर्मणि वर्म करोति सजलनलिनीदलजालम्।
कुसुमविशिखशरतल्पमनल्पविलासकलाकमनीयम्;
व्रतमिव तव परिरंभसुखाय करोति कुसुमशयनीयम्।

उसके मुखकमल के विलोचनों से सदा जलधारा चला करती है, देखकर जान पड़ता है मानो राहु के दाँतों से दलित चन्द्रमंडल से अमृत की धारा झर रही हो। एकान्त में कस्तूरी से आपका चित्र बनाती है, उसमें आप कुसुम-शर के रूप में चित्रित होते हैं; नीचे मकर का चित्र बनाती है और आपके हाथ में नयी आम्र-मंजरी का बाण दे देती है। इस प्रकार आपको प्रणाम किया करती है—

वहति च चलित विलोचनजलभरमाननकमलमुदारम्;
विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम्।
विलिखति रहसि कुरंगमदेन भवन्तमसमशरभूतम्;
प्रणमति मकरमधो विनिधाय करे च शरं नवचूतम्।

माधव, आप दुराप अर्थात् दुर्लभ हैं फिर भी ध्यान की तन्मयता आपको सामने ही कल्पना करके विलाप करती है, हँसती है, विषाद करती चलती है, आनंदित होती है। पद-पद पर कहती है—हे माधव, मैं तुम्हारे चरणों पर पड़ी हूँ; तुम्हारे विमुख होने पर अमृत का निधि यह चंद्रमा भी शरीर में दाह उत्पन्न करता है—

ध्यानलयेन पुरः परिकल्प्य भवन्तमतीव दुरापम्;
विलपति हसति विषीदति रोदिति चंचति मुंचति तापम्।
प्रतिपदमिदमपि निगदति माधव तव चरणे पतिताहम्;
त्वयि विमुखे मयि सपदि सुधानिधिरपि तनुते तनुदाहम्।

इसी सर्ग के अगले गान में राधिका का विरहोन्माद स्पष्ट उठा है। वे अपने वक्षःस्थल पर के पुष्पहार को भी अपने कृश शरीर

भाँति ही भार समझ रही हैं; सरस घन चन्दन-पंक को सशंक भाव से विष की तरह देख रही हैं; मदनाग्नि से तपे हुए की तरह गर्म-गर्म दीर्घ श्वास ले रही हैं; जलकण से भरे, नालहीन नलिन के समान नयनों को इधर-उधर फेंक रही हैं; सायंकाल कपोल-तल पर से हाथ नहीं हटातीं; इस प्रकार आधा ही दिखाई देनेवाला उनका मुहँ स्थिर नवीन चन्द्रमा की तरह दिखाई देता है; नयनगोचर पुष्पशय्या को भी अग्नि की तरह देखती हैं और सकाम भाव से कृष्ण-कृष्ण जप रहीं हैं क्योंकि उन्हें विरह-वेदना से मरण की आशंका हो गई है—

स्तनविनिहितमपि हारमुदारम्;
सा मनुते कृशतनुरिव भारम् ।
राधिका तव विरहे केशव ।
सरसमसृणमपि मलयजपंकम् ।
पश्यति विपमिव वपुपि सशंकम् ॥ रा०
श्वसितपवनमनुपमपरिणाहम् ।
मदनदहनमिव वहति सदाहम् ॥ रा०
दिशि दिशि किरति सजलकणजालम् ।
नयननलिनमिव विगलितनालम् ॥ रा०
त्यजति न पाणितलेन कपोलम् ।
बालशशिनमिव सायमलोलम् ॥ रा०
नयनविपयमपि किशलयतल्पम् ।
गणयति विहितहुताशविकल्पम् ॥ रा०
हरिरिति हरिरिति जपति सकामम् ।
विरहविहितमरणेव निकामम् ॥ रा०
श्रीजयदेवभणितमिति गीतम् ।
सुखयतु केशवपदमुपनीतम् ॥ रा०

राधा का प्रेमोन्माद बड़ा करुणाजनक है—

सा रोमांचित सीत्करोति विलपत्युकम्पते ताम्यति;
ध्यायत्युद्भ्रमति प्रमीलति पतत्युद्याति मूर्च्छत्यपि ।

तदधरमधुरमधूनि पिबन्तम् ।

नाथ हरे सीदति राधा वासगृहे ।

हे नाथ, हे हरे, राधा वासगृह में कष्ट पा रही है । भावना से, आपके मधुर अधर-मधु को पान करते हुए आपको एकान्त में चारों ओर देख रही है ।

त्वदभिसरण रभसेन वलन्ती ।

पतति पदानि कियन्ति चलन्ती ॥ नाथ हरे०

तुम्हारे पास आने के उत्साह से चल पड़ती है, पर कुछ ही पग चलकर गिर पड़ती है । हे नाथ, राधा वासगृह में कष्ट पा रही है ।

राधिका के कष्ट पाने का अनुमान सहृदय पाठक स्वयं ही कर सकते हैं । जीवन का एकान्त आराध्य उनके वियोग में क्षीण हो रहा है, और सारी शक्ति बटोरकर भी वे अभिसरण नहीं कर पातीं । सचमुच यह बड़ी कष्टकर

अवस्था है। इसी बीच विरहिणियों का शत्रु चन्द्रमा आकाश के एक छोर पर दिखाई दिया। सखी राधिका का सन्देश लेकर माधव पास गई थी। उनके आने में कुछ विशेष देर नहीं हुई, पर विरही के लिये समय का छोटे-से छोटा अंश भी कल्प के समान होता है और फिर 'दिक् सुन्दरी-वदन-चन्दन-विन्दु' इंदु भी आ उपस्थित हो तब तो कहना ही क्या है! राधिका हताश भाव से कातर हो उठीं—

जान पड़ता है सखियों ने मुझे धोखा दिया। कथित समय तो बीत गया पर भगवान् तो नहीं आए। हाय! मेरा यह अमल यौवन व्यर्थ ही गया। मैं किसकी शरण जाऊँ, सखियों ने मुझे धोखा दिया!

कथित समयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्।
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम्॥
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवचनवंचिता।

जिसके अनुगमन के लिये रात में मैंने गहन व्रत का अनुष्ठान किया उसीने मेरे इस हृदय को मदन-बाणों से विद्ध कर दिया! मुझ (अभागिनी का), जिसका आवास प्रियशून्य है, मरना ही अच्छा है, मूर्छित हो-होकर कहाँ तक मैं विरहाग्नि का ताप सहूँ?—

यदनुगमनाय निशि गहनमपि शीलितम्।
तेन मम हृदयमिदमममशरकीलितम्॥ यामि०॥
मम मरणमेव वरमिति वितथकेतना।
किमिति विषहामि विरहानलमचेतना॥ यामि०॥

हाय! यह वसन्त की मधुर रात्रि मुझे विकल कर रही है, कोई अन्य पुण्यशीला रमणी भगवान् के समागम का सुख अनुभव कर रही है। हाय! ये मेरे मणिनिर्मित अलंकार भगवान् के विरह-अग्नि को धारण करने के कारण दोषमय हो गए हैं—

मामहह विधुरयति मधुरमधुयामिनी।
कापि हरिमनुभवति कृतसुकृतकामिनी॥ यामि०॥

अहह कलयामि वलयादिमणिभूषणम् ।
हरिविरहदहनवहनेन बहुदूषणम् ॥ यामि० ॥

अति विकट है यह मदनबाण की लीला जिसके कारण यह माला भी मुझ कुसुम-कोमल शरीरवाली के हृदय में चोट कर रही है। हाय ! मैं तो इस विषम वन की (भयावनी) वेत्र-लताओं का कुछ भी विचार न कर यहाँ ठहरी हुई हूँ, पर भगवान् मुझे मन में भी नहीं याद करते—

कुसुमसुकुमारतनुमतनुशरलीलया ।
स्रगपि हृदि हन्ति मामतिविषमशीलया ॥ यामि० ॥
अहमिह निवसामि न गणितवनवेतसा ।
स्मरति मधुसूदनो मामपि न चेतसा ॥ यामि० ॥

तो क्या भगवान् किसी अन्य गोप-ललना की ओर चले गए ? या साथियों ने उन्हें कला-केलि से अटका तो नहीं रखा ? कहीं वे गहन तिमिराकुल वन में भटक तो नहीं रहे हैं ? कहीं रास्ते में ही क्लांत होकर चलने में मेरे कान्त असमर्थ तो नहीं हो गये ? क्या बात है जो वे इस पूर्व निर्धारित मंजुल वंजु (वेत्र)—लता के कुंज में नहीं आये—

तत्किं कामपि कामिनीमभिसृतः किं वा कलाकेलिभिः—
बद्धो बंधुभिरन्धकारिणि बनाभ्यर्णे किमुद्भ्राम्याति ।
कांतः क्लांतमना मनागपि पथि प्रस्थातुमेवाक्षमः
संकेतीकृतमञ्जु वञ्जुललता कुञ्जेऽपि यन्नागतः ।

जयदेव ने जिस विरहिणी का चित्र खींचा है उसमें विलासिनी व्रजसुंदरी का रूप रह-रहकर स्पष्ट झलक आता है। कवि की प्रतिज्ञा भी विलास-कलावती हरिप्रिया के चित्रण की ही है। पहला पन्ना खोलते ही कवि अपना काव्य पढ़ने के लिये निमंत्रण देते समय दो शर्तें रखता दिखाई देता है। यदि हरिस्मरण में मन सरस हो, और यदि विलास-कला में कुतूहल हो, तब मधुर कोमलकांत पदावली वाली जयदेव की सरस्वती को पढ़ो—

यदि हरिस्मरणेसरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम् ।

मधुर कोमलकांतपदावलीं
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ।

अगर इन दोनों में से कोई एक भी शर्त पूरी न हो, तो जयदेव की सरस्वती का आनंद उठाना असंभव है। जयदेव की विलासिनी राधा और कितव कृष्ण की विलास-कला वस्तुतः आधी भी नहीं रहेगी अगर राधिका को एकांत प्रेम-निर्भर भक्त के रूप में न देखा जाय। भगवान् की प्राप्ति के लिये जयदेव की राधा इतनी व्याकुल हैं कि वे सभी कारण जो सांसारिक रमणियों की विरक्ति के साधन हैं उन्हें प्रेम के मार्ग से विचलित नहीं कर सकते। यह कुसुम-कोमल शरीर विरह-ताप को अधिक सहन कर ही नहीं सकता। राधिका कहती हैं—

नायातः सखि निर्दयो यदि शठस्त्वं दूति किं दूयसे !
स्वच्छंदं बहुवल्लभः स रमते किं तत्र ते दूषणम् !
पश्याद्य प्रियसंगमाय दयितस्याकृष्यमाणं गुणैः
उत्कंठार्तिभरादिव स्फुटदिदं चेतः स्वयं यास्यति ॥

क्षण भर के विलंब में भी जो चित्त उत्कंठार्ति के बोझ से फट पड़ता है उसकी सुदूर प्रवास के वियोग की अवस्था कल्पना से भी परे है। इसीलिये कहते हैं कि इस मृणाल-तन्तु को जयदेव ने प्रखर ग्रीष्म के ताप में न रखकर अच्छा ही किया है—अच्छा ही किया है !

---

३०. सूरदास की राधिका

सूरदास ने राधिका के जिस रूप का चित्रण किया है उसकी तुलना शायद ही किसी अन्य भक्त के चित्रण से की जा सके। चिर-साहचर्य और बाल्य-सख्य की भूमिका के ऊपर प्रतिष्ठित यह राधिका अथवा उपमान स्वयं ही हो। इस प्रेम का कोई पटतर नहीं है। बाल लीला के समय ही एक दिन श्री कृष्ण व्रज की गलियों में खेलते निकल पड़े। उस दिन उन्होंने नीलवस्त्र-समावृता राधिका को देखा। वे यमुना के तार पर छोटी-छोटी बालिकाओं के साथ खेलने आई थीं। सूरदास के श्याम उन्हें देखते ही रीझ गए, नैन से नैन मिले और ठगोरी पड़ गई—नैन नैन मिलि परी ठगोरी[1]। संस्कृत के कवि ने एक प्रकार की ठगोरी का वर्णन किया है, जिसमें श्यामसुन्दर को देखते ही राधिका कुछ ऐसी ठगी गई थीं कि खाली वर्तन में ही दही मथने लगी थीं और उधर श्यामसुन्दर ऐसे भूले कि गाय के भ्रम से बैल को दुहने बैठ गए थे[2]।

---

१ खेलन हरि निकसे व्रज खोरी।
कटि कछनी पीतांबर ओढ़े हाथ लिये भौंरा चक डोरी।
मोर मुकुट कुण्डल स्रवननि पर दसन दमकि दामिनि छवि छोरी।
गये स्याम रवितनया के तट अंग लसत चंदन की खोरी।
औचक ही देखी तहं राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे वेनी पीठ रुचिर झकझोरी।
संग लरिकनी चलि इत आवति दिन थोरी अति छवि तन गोरी
सूरस्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी॥

२ राधा पुनातु जगदच्युतदत्तचित्ता
मंथानमाकलयती दधिरिक्तपात्रे।
यस्या मुखाम्बुजसमर्पितलोलदृष्टि-
देवोऽपि दोहनधिया वृषभं दुदोह॥

यह ठगौरी और तरह की थी। इसमें कहीं झिझक या संकोच का लेश भी नहीं था, सो श्याम ने देखा और परिचय पूछा—'क्यों जी तुम कौन हो, किसकी लड़की हो? तुम्हें तो व्रज की गलियों में कभी खेलते नहीं देखा'। राधिका ने उत्तर में कहा, 'क्यों हम आवें व्रज की गलियों में। हम तो अपनी ही पौर पर खेलती रहती हैं, सुना है नंद का ढोटा बड़ा चोर है, किसी का दही चुरा लेता है, तो किसी का मक्खन ले भागता है।' श्याम ने हँसते हुए कहा—'भला मैं तुम्हारा क्या चुरा लूँगा जो तुम खेलने नहीं जातीं! तुम तो दही बेचने जाती नहीं। चलो न खेलने चलें। हमारी तुम्हारी जोड़ी अच्छी रहेगी।' सूरदास के श्याम रसिकशिरोमणि हैं। भोली राधिका बातों में भूल गईं। बिचारी को पता नहीं चल सका कि दही से भी बड़ी चीज—उनका हृदय—इस अजीब चोर ने बातों ही बातों हर लिया—

> बूझत श्याम कौन तू गोरी।
> 'कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ व्रजखोरी'।
> 'काहे को हम व्रज तन आवति, खेलत रहति आपनी पौरी'।
> सुनत रहति श्रवनन नंद ढोटा करत रहत माखन दधि चोरी'।
> 'तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं, खेलन संग चलो मिलि जोरी'।
> सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बातनि भुलइ राधिका गोरी।

यह प्रथम दर्शन था पर प्रेम की उलझन यहीं शुरू हो गई। राधिका मनही मन उलझ गईं। उन्हें अब घर अच्छा नहीं लगता, चित्त नये खेल के साथी के लिये व्याकुल हो जाता है। माता से बराबर दोहनी माँगती रहती हैं, उद्देश्य है खरिक में नये साथी से मिलना [1]। अब उन्हें भगवान् के बिना कहीं अच्छा

---

[1] नागरि मनहिं गई अरुझाइ।
अति विरह तन भई व्याकुल घर न नेकु सुहाइ।
श्यामसुन्दर मदनमोहन मोहिनी-सी लाइ।
चित्त चञ्चल कुँअरि राधा खान पान भुलाइ।
कबहुँ विलपति कबहुँ विहँसति सकुचि बहुरि लजाइ।

-नहीं लगता, एक साथ छाया की भाँति लगी रहती हैं। गुरुजन इस नयन-मन-हारी जोड़ी को देखकर उल्लसित होते हैं। कभी वृषभानु का और कभी नंद का घर इस युगलमूर्ति के पवित्र हास्य से उद्भासित होता रहता है। खरिक में भी राधाकृष्ण, यमुनातट पर भी राधाकृष्ण, व्रज की गलियों में भी राधा-कृष्ण, जहाँ देखो वहीं राधाकृष्ण—यशोदा ने राधिका को देखा और आनन्दगद्गद् होकर पूछ बैठीं—

नामु कहा है तेरो प्यारी।
बेटी कौन महर की है तू कहि सु कौन तेरी महतारी॥
धन्य कोख जेहि तोको राखयो धन्य घरी जिहिं तू अवतारी।
धनि पितु मातु धन्य तेरी छवि, निरखति यों हरि की महतारी॥

राधिका का परिचय पाकर यशोदा माता ने उन्हें अच्छी तरह संवार दिया[1], बोलीं—जा अब श्याम के संग खेल[2]। इस प्रकार बालकाल से ही राधिका और कृष्ण का प्रेम सहज स्वाभाविक रूप में विकसित होता है, तथापि दोनों के मन में एक दूसरे के लिये एक विषम उत्सुकता रात-दिन बनी रहती है।

जननि सों दोहनी माँगति बेगि दै री माइ।
सूर प्रभु को खरिक मिलिहौं गये मोहिं बुलाइ।

१ जसुमति राधा कुँअरि सँवारति।
बड़े बार भीवन्त सीस के प्रेम सहित लै लै निरवारति॥
मांग पारि बेनीहिं सँवारति गूँथी सुन्दर भाँति।
गोरे भाल बिंदु बंदन मानो इन्दु प्रात रवि कान्ति।
सारी चीर नई फरिया लै अपने हाथ बनाइ॥
अंचल सों मुख पोंछि अंग सब आपुहि लै पहिराइ।
तिल चाँवरी बतासे मेवा दियें कुँअरि की गोद।
सूर स्याम राधा तन चितवत जसुमति मन मन मोद॥

२ खेलौ जाइ स्याम सँग राधा।
यह सुनि कुँअरि हरष मन कीन्हों मिट गई अन्तर बाधा॥

राधिका शुरू से ही तद्गतचित्ता होकर भगवान् से प्रेम करती हैं। वे मन ही मन अपने अन्तर्यामी श्याम से कहती हैं कि तुम साक्षी हो, मैं तुम्हारे सिवा और किसीको नहीं जानती, मां-बाप तो कुलमर्यादा को ही ध्यान में रखते हैं, वे तुम्हें क्या जानें?—

राधा विनय करति मनही मन सुनहु श्याम अन्तर के यामी।
मातुपिता कुल-कानिहिं मानत तुमहिं न जानत हैं जगस्वामी!

यह विलास-कलावती की प्रार्थना नहीं है, यह भक्त की कामना है, जो अपने आराध्य के अतिरिक्त और किसीको नहीं मानना चाहता। यह एकान्त प्रेम है, यह प्रेम आकस्मिक नहीं है, दीर्घकाल के साहचर्य से उत्पन्न यह प्रेम अपना उपमान आपही है। भवभूति ने राम और सीता के प्रेम में दीर्घ साहचर्यजनित इस गाढ़ता का दर्शन पाया था[1], सूरदास ने राधिका के प्रेम में उसी प्रेम की पराकाष्ठा देखी थी :

मन मधुकर पद कमल लुभान्यो।
चित्त चकोर चंद्रनख अंटक्यो इक टक पल न भुलान्यो॥

और

श्याम सखि नीके देखे नाहीं।
चितवत ही लोचन भरि आए बारबार पछिताहीं।
कैसेहू करि इक टक राखति नैकहि में अकुलाहीं।
निमिप मनो छवि पर रखवारे ताते अतिहिं डराहीं।

प्रेम-वैचित्त्य

राधिका के मुख से ही इस प्रेम का इतिहास श्रवणीय है, और कौन उस अजीब दुख को समझ सकता है? जबसे भगवान के साथ उनका परिचय

---

[1] किमपिकिमपि मंदमंदमासत्तियोगादविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरंभव्यापृतैकैकदोष्णोरविदितगतयामा रात्रिरेवं व्यरंसीत्॥

हुआ है तभी से वे चेरी की भाँति साथ-साथ रही है पर प्रेम की प्यास कहाँ मिटी !—

सुनु री सखी, दसा यह मेरी।
जब तें मिले श्यामघन सुंदर संगहिं फिरत भई जनु चेरी।
नीके दरस देत नहिं मोको अंगन प्रति अनंग की टेरी।
चपला तें अतिही चंचलता दसन दमक चकचौंध घनेरी।
चमकत अंग, पीतपट चमकत, चमकति माला मोतिन केरी।
'सूर' समुझि विधना की करनी अति रस करति सौंह मुँह तेरी

यह प्रेम-वैचित्त्य का चरम निदर्शन है। प्रिय के अति निकट रहने भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग-कथा की जो अनुभूति होती है प्रेम-वैचित्त्य कहते हैं। प्रेम का उत्कर्ष ही इसका कारण है। रूप गोस्वामि ने इसके उदाहरण में बताया है कि श्रीकृष्णचंद्र के सामने होते हुए तीव्रानुराग वश वियोग-व्यथा की आशंका से राधिका हतबुद्धि हो गई उन्हें चक्कर आ गया। दाँतों में तिनका दबाते हुए बोलीं, हे सखि, मेरे को दिखाओ। उन्होंने कुछ ऐसी चेष्टा की कि स्वयं श्रीकृष्ण भी वि हो गए :—

आभीरेन्द्रसुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया
विश्लेषज्वरसम्पदा विवशाधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता।
कान्तं मे सखि दर्शयेति दशनैरुद्घूर्णशष्पांकुरा
राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यथा कृष्णोऽप्यभूद्विस्मितः॥

परन्तु मेरा विश्वास है कि गोस्वामिपाद को सूरदास के पदों से होता (सूरदास कुछ परवर्ती हैं) तो वे सूरदास से ही कोई पद उद्धृ आधार वे इस पद को उद्धृत करते:—

मोहिं मिलेहु प्रतीति न आवति।
[illegible] नाथ [illegible] विलोकनि दृगन को सुख पावति।
[illegible] लोचन रूप परमनिधि उर में आनि दुरावति।
[illegible] हरि [illegible] विधि गति [illegible] ज्यों [illegible]॥

चितवत् चकित रहति चित अन्तर नैन निमेष न लावति ।
सपनों आहि कि सत्य ईश बुद्धि वितर्क बनावति ।
कबहुँक करति विचारि कौन हौं को हरि केहि यह भावति ।
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरंग उपजावति ।

या फिर इस पद को उद्धृत करते—

यद्यपि राधिका हरि संग ।
हाव भाव कटाच्छ लोचन करत नाना रंग ।
हृदय व्याकुल धीर नाहीं वदन कमल विलास ।
तृषा में जल नाम सुनि ज्यों अधिक अधिकहिं प्यास ।
श्याम रूप अपार इत उत लोभ पट्ट विस्तार ।
'सूर' मिलत न लहत कोऊ दुहुँनि बल-अधिकार ॥

या फिर और कोई पद उद्धृत कर लेते । सूरसागर में उन्हें उत्तम-से-उ
उदाहरण मिल जाते । यह वैचित्र्य अत्यन्त सहज और अत्यन्त सुकुमार
सचमुच ही व्रजराजकुँवर और राधारानी का यह अपूर्व प्रेम लोकोत्तर ही
जब युगुलमूर्ति का मिलन होता है सारी वनस्थली थकित-सी होकर निर्नि
भाव से शोभा के इस अपार समुद्र को देखा करती हैं और इस मिलन-सं
को गाते-गाते सूरदास जैसे रुकना ही नहीं जानते ।

राधा का प्रेमभाव

प्रेम के इस स्वच्छ और मार्जित रूप का चित्रण भारतीय साहित्य में कि
और कवि ने नहीं किया । यह सूरदास की अपनी विशेषता है । वियोग के स
राधिका का जो चित्र सूरदास ने चित्रित किया है वह भी इस प्रेम के योग्य
वियोग के समय राधिका के मिलन-समय की मुखरा लीलावती, चंचला अ
हंसोड़ राधिका वियोग के समय मौन, शान्त और गम्भीर हो जाती हैं । उ
से अन्यान्य गोपियां काफी बक-झक करती हैं । पर राधिक वहाँ जाती
नहीं । उद्धव ने श्री कृष्ण से उनकी जिस मूर्ति का वर्णन किया है उससे पत्
भी पिघल सकता है । उन्होंने राधिका की आंखों को निरन्तर बहते देखा

ोल-देश वारि-धारा से आर्द्र था, मुखमण्डल पीत हो गया था, आँखें धँस ई थीं, शरीर कंकाल-शेष रह गया था। वे दरवाजे से आगे न बढ़ सकी । प्रिय के प्रिय वयस्य ने जब संदेश माँगा तो वे मूर्च्छित होकर गिर ड़ीं। प्रेम का वही रूप जिसने संयोग में कभी विरहाशंका का अनुमान नहीं िया वियोग में इस मूर्ति को धारण कर सकता है। वास्तव में सूरदास की ाधिका शुरू से आखिर तक सरल बालिका हैं। उनके प्रेम में चंडीदास की राधा की तरह पद-पद पर सास-ननद का डर भी नहीं है, और विद्यापति की किशोरी राधिका के समान रुदन में हास और हास में रुदन की चातुरी भी नहीं है। इस प्रेम में किसी प्रकार की जटिलता भी नहीं है। घर में, वन में, घाट-पर, कदम्बतले, हिंडोरे पर,—जहाँ कहीं भी इसका प्रकाश हुआ है वहीं पर अपने आप में ही पूर्ण है। मानो वह किसी की अपेक्षा नहीं रखता और न कोई उसकी खबर रखता है। राधिका के इस रूप का परिचय पाने के लिये हमें कुछ और भी पदों को देखना होगा। मैंने अपनी पुस्तक 'सूर-साहित्य' में इस बात की कुछ विस्तृत चर्चा की है। यहाँ यथासंभव संक्षेप में कह रहा हूँ।

सूरदास जब अपने प्रिय विषय का वर्णन शुरू करते हैं तो मानो अलंकार-शास्त्र हाथ जोड़कर उनकेपीछे-पीछे दौड़ा करता है। उपमाओं की बाढ़ आ जाती है, रूपकों की वर्षा होने लगती है। संगीत के प्रवाह में कवि स्वयं बह जाता है। वह अपने को भूल जाता है। काव्य में इस तन्मयता के साथ शास्त्रीय पद्धति का निर्वाह विरल है। पद-पद पर मिलनेवाले अलंकारों को देखकर भी कोई अनुमान नहीं कर सकता कि कवि जान-बूझकर अलंकारों का उपयोग कर रहा है। पन्ने पर पन्ने पढ़ते जाइये, केवल उपमाओं और रूपकों की घटा, अन्योक्तियों का ठाठ, लक्षणा और व्यञ्जना का चमत्कार,—यहाँ तक कि एक ही चीज दो-दो, चार-चार, दस-दस बार तक दुहराई जा रही है,—फिर भी स्वाभाविक और सहज प्रभाव कहीं भी आहत नहीं हुआ। जिसने सूरसागर नहीं पढ़ा उसे यह बात सुनकर कुछ अचंभे-सी लगेगी, शायद वह विश्वास ही न कर सके, पर बात सही है। काव्यगुणों की इस विशाल वनस्थली में एक अपना सहज

सौंदर्य है। वह उस रमणीय उद्यान के समान नहीं जिसका सौंदर्य पद-पद पर माली के कृतित्व की याद दिलाया करता है बल्कि उस अकृत्रिम वन-भूमि की भाँति है जिसका रचयिता रचना में ही घुल-मिल गया है।

राधा और कृष्ण के इस मिलन-सुख के भीतर अचानक दुःख का दर्शन हुआ। कंस के दूत अक्रूर एकाएक किसी भयानक धूमकेतु की भाँति उदित हुए। बिना पूर्णिमा के ही चंद्रमा पर ग्रहण लग गया—'बिनु परबहिं उपराग आजु हरि, तुम हैं चलन कह्यो!' जिसने जहाँ सुना वह वहीं व्याकुल हो रहा। ब्रज के युवतियों की तो मत पूछिए। वे चित्र-लिखित-सी हो रहीं, जो जहाँ थी, वहीं उसकी पलकों में टक लग गई, इन्द्रिय-व्यापार-रुद्ध हो रहे, सभी स्तब्ध, सभी हतचेतन! सूरदास ने राधिका की दशा की ओर इशारा भर कर दिया है वे जानते थे कि ब्रज लाड़िली के चित्त पर इस आकस्मिक उल्कापात का जो फल हुआ था वह वर्णन के अतीत है। सूरसागर में इस प्रसंग में जितने पद आए हैं वे विवश व्याकुलता के निदर्शक हैं। भगवान् जा रहे हैं, उन्हें रोक सकना असंभव है, और फिर भी उनके बिना जीवन का भार हो जाना निश्चित है। विवश राधिका भीतर ही भीतर कट के रह जाती हैं, उनका हृदय इतना गंभीर है कि वे अपना विरह पीकर रह जाती है, उसे भगवान् के निकट प्रकट नहीं होने देतीं! भगवान् सबको रुलाते-कल्पाते जब चलने को तैयार हो ही जाते हैं तब भी राधिका कर्म को दोष देकर भीतर ही भीतर मसोस कर रह जाती हैं—

> चलत हरि धृग जु रहे ए प्रान।
> कहाँ वह सुख अब सहहुँ दुसह दुख डर करि कुलिस समान।
> कहाँ वह कंठ श्याम सुंदर भुज, करति अधर रसपान।
> अँचवत नयन-चकोर सुधा विधु देखेहु मुख छवि आन।
> जाको जग उपहास कियो तब छांड्यो सब अभिमान।
> 'सूर' सुनिधि हम तें है बिछुरत कठिन है करम-निदान!

श्याम का रथ चल पड़ता है—'सखी री, वह देखौ रथ जात'! हाय हाय, राधिका की उन विवश आंखों की कल्पना भी कितनी हृदय-वेधक है।

उनकी आँखें पीछे ही लौट आना चाहती हैं, प्राणेश्वर के रथ के साथ आगे बढ़ना नहीं चाहतीं। उनका मन तो उस माधुरी मूर्ति के साथ चला गया, शरीर ब्रज में लौटकर क्या करेगा भला! कहीं राधिका हवा हो सकतीं और रथ की पताका को आसमान में उड़ा सकतीं! काश, वे धूल हो जातीं और चरणों में लिपट जातीं! पर हाय, यह सब कहाँ हो सका? वह रूप और माधुर्य की पुत्तलिका ब्रजबाला मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी:—

पाछेही चितवत मेरो लोचन आगे परत न पाँइ।
मन लै चली माधुरी मूरति कहा करौं ब्रज जाइ।
पवन न भई पताका अंबर रथ के भई न अंग।
धूरि न भई चरन लपटाती जाती तँह लौं संग।
ठाढ़ी कहा करौं मेरी सजनी जेहि विधि मिलहिं गोपाल।
सूरदास प्रभु पठै मधुपुरी मुसकि परी ब्रजबाल!

अब पछतावा हो रहा है। जब मोहन चलने लगे तो फेंट क्यों नहीं पकड़ ली। राधिका तो लाज से गड़ी जाती थीं पर क्या यशोदा माता को इतना भी नहीं करना था! उनके बिना राधिका का यह वियोग विधुरा शरीर तो कौड़ी के मोल का भी न रहा। लाजवश उस समय जो निष्क्रियता आ गई वह आज हृदय को वेधे डालती है—

तब न विचारी री यह बात।
चलत न फेंट गही मोहन की अब ठाढ़ी पछितात।
निरखि निरखि मुख रही मौन ह्वै थकित भई पलपात।
जब रथ भयो अदृष्ट अगोचर लोचन अति अकुलात
सबै अजान भईं वही अवसर धिगहि जसोमति मात
सूरदास स्वामी के बिछुरे कौड़ी भरि न बिकात!

तथा,

अब वे बातें इहाँ रहीं।
मोहन मुख मुसुकाइ चलत कछु काहू नाहिं कही।

सखि सुलाज बस समुझि परसपर सनमुख सबै सही।
अब वै सालति हैं उर महियाँ कैसेहु कढ़ति नहीं।

प्रथम विछोह की यह व्याकुलता अपार है। रात तारे गिनते-गिनते कट जाती है, पापी हृदय वज्र से भी कठोर होकर उस दारुण विरह की मार को सहना करता है, मृत्यु और जीवन की रस्साकशी का वह दृश्य, बड़ा ही मर्मवेधक है[1]। श्याम को भूलना भी कठिन है। चण्डीदास ने ठीक ही कहा है कि श्याम की प्रीति की यह स्मृति भी दारुण है और भूलने से भी प्राण फटने लगता है। वह शंख वणिक् के उस करात (आरी) की भाँति हैं जो आते भी काटता है जाते भी काटता है—

श्यामेर पिरीति स्मिरिति विषम, भुलिते परान फाटे—
शाँख-वणिकेर करात येमति आसिते जाइते काटे!

बहुत दिन होग ए, 'बिनु गोपाल बैरिनि भई कुंजैं!' भगवान् ने एक पाती

---

[1] उदाहरणार्थ,

आजु रैनि नहीं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी।
वह चितवनि वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी कहि न सकति कछु काम दही।
इतनैं मन व्याकुल भयो सजनी आरज पंथहुँ तैं बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे किती दूर मथुरा नगरी।

और

हरि बिछुरत फाट्यो न हियो।
भयो कठोर वज्र तैं भारी रहि कै पापी कहा कियौ।
घोरि हलाहल सुनि मेरी सजनी औसर तोहि न पियौ।
मन-सुधि गई सँभारत नाहिन पूर दांव अक्रूर दियौ।
कछु न सुहाई गई सुधि तब तैं भवन काज को नेम लियौ।
निसि दिन रटत सूर के प्रभु बिन मरिबो तऊ न जात जियौ।

भी नहीं लिखी। राधा ने बड़े यत्न से प्रियतम की मूर्ति बनाई, सजल मेघ के समान शरीर पर विद्युत् की भाँति पीतांबर सजा दिया, स्कंधदेश को उन्नत, कटि को क्षीण, भुजाओं को विशद, कपोल नासिका नेत्र केश सभी को यथोचित चित्रित किया—चित्र इतना सुंदर उतरा कि जान पड़ा अब बोला तब बोला! पर हाय, इसी भ्रम ने सब कुछ माटी कर दिया, सारी तन्मयता भंग कर दी, उस कमनीय मुख के मृदु वचन सुनने के लिये वे आतुर भाव से व्याकुल हो उठीं—

> मैं सब लिखि सोभा जु बनाई।
> सजल जलद तन बसन कनक रुचि उर बहुदाम सुहाई।
> उन्नत कंध कटि खीन बिषम भुज अंग अंग सुखदाई।
> सुभग कपोल नासिका नैन छबि अलक लिखित धृति पाई।
> जानति हौं [illegible] करि ऐसेहि दिन बिरमाई।
> सूरदास मृदु बचन स्रवन लगि अति आतुर अकुलाई॥

उपर्युक्त कवि की नायिका ने चित्र नहीं बनाया था केवल ध्यान योग से यह मूर्ति तैयार की थी। तन्मयता के आवेश में उस ध्यान-मूर्ति को वास्तविक [illegible], [illegible], [illegible], कलपती और आनंदित होती रही और पद-[illegible]—हे माधव मैं तुम्हारे चरणों पर पड़ी हूँ, तुम्हारे वियुक्त [illegible] चंद्रमा भी मेरे शरीर में दाह उत्पन्न करता है:—

भगवान् के आने पर भी दौड़कर मिलने नहीं चल देतीं। भगवान् ने जब छोड़ दिया है तो उन्हें इसीमें प्रसन्नता होगी, नहीं तो त्याग ही क्यों करते? राधा अपने सुख के लिये ऐसा कार्य कभी नहीं कर सकतीं जो उनकी प्रसन्नता का परिपंथी हो! राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला का वह चित्र बनाया था जिसमें उसके दोनों नेत्र कानों तक फैले हुए थे, भ्रूलताएँ लीला द्वारा कुञ्चित थीं, अधर देश उज्ज्वल दसनच्छवि से उद्भासित थे, ओष्ठ प्रदेश पके हुए कर्कन्धूफल के समान पाटल वर्ण के थे, विभ्रमविलास की मनोहारिणी छवि की एक तरल धारा सी जगमगा उठी थी, चित्रगत होने पर भी मुख में ऐसी सजीवता थी कि जान पड़ता था अब बोला तब बोला—

दीर्घापांगविसारिनेत्रयुगलं लीलांचितभ्रूलतं
दन्तान्तःपरिकीर्णहासकिरणज्योत्स्नाविलिप्ताधरम्।
कर्कन्धूद्युतिपाटलोष्ठरुचिरं तस्यास्तदेतन्मुखं।
चित्रेऽप्यालपतीव विभ्रमलसत्प्रोद्भिन्नकान्तिद्रवम्॥

कवि कालिदास ने लौकिक प्रेम के भीतर भी स्वर्गीय गांभीर्य भर दिया है। उधर कालिदास के यक्ष ने जब अपनी प्रिया का चित्र बनाया था तो उसे प्रणयकुपित अवस्था ही याद आई थी, वह चित्र के पैरों पड़ने जा रहा था कि उसकी आंखों में आंसू आ गए। क्रूर विधाता से उस हालत में भी उन प्रेमियों का मिलन नहीं सहा गया[१]। पर राधिका ने जो चित्र बनाया था वह सहज भाव का सहज चित्र था। यक्षप्रिया के चित्र को चित्र ही समझता रहा पर राधा ने वैसा नहीं समझा। वे उसे साक्षात् प्रिया समझकर उसकी मृदु वाणी सुनने को अधीर हो गईं।

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया—
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामिकर्तुं।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ विधाता।

एक पथिक मथुरा जा रहा था। राधिका ने उसे बुलाया पर जब संदेश कहने गईं तो 'गद्गद कंठ हियो भरि आयो वचन कह्यो न गयो!' पर कुछ धीरज धारण करके राधिका ने उस पथिक से जो कुछ संदेश भिजवाया वह सूरसागर की राधिका के हृदय का मर्मांतक निदर्शन है—

नाथ, अनाथन की सुधि लीजै।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत सब दीन मलीन दिनहिं दिन छीजै।
नैन सजल धारा बाढ़ी अति बूड़त ब्रज किन कर गहि लीजै।
इतनी बिनती सुनहु हमारी बारकहूँ पतिया लिखि दीजै।
चरन कमल दरसन नव नौका करुनासिंधु जगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै।

राधिका की एक ही प्रार्थना है :

बारक जाइयो मिलि माधौ।
को जाने तन छूटि जाइगो सूल रहै जिय साधौ।
पहुनेहु नंद बबा के आवहु देखि लेउं पल आधौ।
मिलेही में विपरीत करे विधि होत दरस को बाधौ।
जो सुख शिव सनकादि न पावत सो सुख गोपिन लाधौ।
सूरदास राधा विलपति है हरि को रूप अगाधौ।

उद्धव आए। गोपियों से उनकी जो बात चीत हुई उसमें युग युगान्त का सनातन विरह फूट पड़ा है। गोपियों ने प्रेमातिशय्य के कारण क्या-क्या नहीं कहा, विचारे भौंरे की तो दुर्गति ही कर डाली पर एकान्त प्रेम की पावन प्रतिमा राधा ने क्या कहा? वे उद्धव के पास गईं ही नहीं। चलती बार उद्धव राधिका के घर स्वयं गए और प्रियतम के लिये संदेश की प्रार्थना की। हाय, राधिका कौन सा संदेशा दें! जिस गोपाल के साथ गुड़ियों के खेल खेले हैं, ठठोली से पनघट मुखरित हुए हैं, वे ही आज मथुरा के सम्राट हैं। वे संदेश चाहते हैं, उन्होंने दूत भेजा है! जो इतने समीप थे वे आज इतने दूर हो गए हैं। राधिका ने उद्धव को देखा और उनके दोनों विशाल नयन उमग

चले[1]। वे आगे बढ़कर उद्धव का स्वागत करना चाहती थी पर चरण उलभ गए, थहरा कर गिर पड़ीं—

चलत चरन गहि रह गईं, गिरि स्वेद-सलिल रस भीनी।
छूटी बट, भुज फूटी बलया, टूटी लर फटी कंचुक झीनी

और

कंठ वचन न बोलि आवै हृदय परिहसभीन'
नैन जलि भरि रोइ दीनी ग्रसित आपद दीन !

जिन नयनों की कृपाकोर के लिये किसी दिन नटनागर के नयन प्यासे

---

[1] उमगि चले दोउ नयन विशाल।
सुनि-सुनि यह संदेश श्यामघन सुमिरि तुम्हारे गुन गोपाल।
आनन वपु उरजनि के अन्तर जलधारा बाढ़ी तेहिकाल।
मनुजुग जलज सुमरे अंग तें जाइ मिले सम शशिहिं सनाल।

और

तुम्हरे विरह व्रजराज, राधिका नैननि नदी बढ़ी।
लीने जात निमेष कूल दोउ एते यान चढ़ी।
गोलकनाउ निमेष न लागत सो पलकनि बर बोरति।
ऊरध श्वास समीर तरंगनि तेज तिलकतरु तोरति।
कज्जल कीच कुचील किये तट अंबर अधर कपोल।
थकि रहे पथिक सुजस हितही के हस्तचरण मुख बोल।
नाहिन और उपाय रमापति बिन दरसन जो कीजे।
आंसू सलिल बूड़त सब गोकुल 'सूर' सुकर गहिलीजै।

और

नैन घट घटत न एक घरी।
कबहुँ न मिटत सदा पावस व्रज लागी रहत झरी।
सब ऋतु मिटी एक भई व्रज महि चाहे विधि उलटि धरी।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे बिछुरे मिटि मरजाद टरी।

रहते थे, प्रथम दर्शन में ही जिन नयनों ने गोपाललाल के नयनों में ठगोरी डाल दी थी, उन्हीं नयनों को उद्धव ने कैसा देखा ? हाय, सूरसागर में प्रतिफलित उस अपार विरह-समुद्र को कौन समझ सकता है ? उद्धव ने क्या देखा ?

नैनन होड़ बदी बरखा सों।
रातिदिवस बरसत झर लाये दिन दूनी करखा सों।
चारि मास बरसे जल खूँटे हारि समुझि उनमानी।
एतेहू पर धार न खंडित इनकी अकथ कहानी।

और

देखी मैं लोचन चुअत अचेत।
मनहुँ कमल शशित्रास ईस को मुकुता गनि गनि देत।
द्वार खड़ी इकटक पग जोवति उरधहु श्वास न लेत...इत्यादि।

राधिका की दशा उद्धव ने बड़ी ही करुण भाषा में बताई थी :—

रहति रैन दिन हरि हरि हरि रट।
चितवत इकटक मग चकोर लौं जबतें तुम बिछुरे नागर नट।
भरि भरि नैन नीर ढारति है सजल करति अति कंचुकी के पट।
मनहुँ बिरह को ज्वर ता लगि लियो नेम प्रेम शिव शीश सहस घट।
जैसे यव के अंगु ओस कन प्रान रहत ऐसे अवधिहि के तट।
'सूरदास' प्रभु मिलौ कृपा करि जे दिन कहे तेउ आए निकट॥

भक्तों में प्रसिद्ध है कि सूरदास उद्धव के अवतार थे। यह उनके भक्त और कार्य जीवन की सर्वोत्तम आलोचना है। बृहद्भागवतामृत के अनुसार उद्धव भगवान् के महाशिष्य महाभृत्य महामात्य और महाप्रियतर थे। वे सदा श्रीकृष्ण के साथ रहते थे, शयन के समय, भोजन के समय राजकाज के समय, कभी भी भगवान् का साथ नहीं छोड़ते थे, यहाँ तक कि अन्तः पुर में भी सदा साथ-साथ रहते थे। केवल एकबार उन्होंने भगवान् का साथ छोड़ा था और वह उस समय जब गोपियों का समाचार लेने के लिये भगवान् ने ही उन्हें वृन्दावन भेजा था। कहते हैं, इसबार उन्हें भगवत्संग से दूना आनंद मिला था। उनके तीन काम थे, भगवान् की पद-सेवा, उनके साथ हास-विनोद

और क्रीड़ा के समय साथ-साथ रहना। पहले कार्य में वे इतने तन्मय रहते थे कि अबोधलोगों को भ्रम हो जाता था कि वे पागल हो गए हैं। सूरदास के जीवन का भी यही परिचय है। केवल एकबार उन्होंने सूरसागर में भगवान् का साथ छोड़ा है, भ्रमर गीत में, और निश्चय ही उन्हें भी दूना आनंद मिला था। इस प्रवाद का साहित्यिक अर्थ बड़ाही अर्थपूर्ण है। उद्धव के मुख से सूरसागर में जो कुछ कहवाया गया है वह कल्पना-विलास नहीं है, प्रत्यक्ष अनुभत सत्य है। मैं आपको यहाँ फिर एकबार याद दिला दूं कि विरह के प्रसंग में साधक भक्त अपने आपको ही खोलकर रख देता है।

परन्तु राधिका का चित्र अब भी अधूरा है। मैं अपने पाठकों को प्रभासक्षेत्र में ले जाना चाहता हूँ। आज बहुत दिनों के बाद आनंदकंद भगवान् गोपियों और गोपालों को कृतार्थ करने वाले हैं। आज राधिका के भाग्य फिरे हैं—'अंचल उड़त, मन होत गहगहो, फरकत नैन खये'!, राधिका ने यह शुभ संवाद सुना। उनकी आंखों में आंसू भर आया। श्यामसुन्दर तो आगए पर उनके दर्शन क्या भाग में बदे हैं? कौन जाने! उन्होंने इच्छापूर्वक राधिका का त्याग किया है, खुशी होगी तो फिर ग्रहण करेंगे पर राधिका दौड़कर उनके प्रेमको अपमानित नहीं करेंगी। पर हाय, मन तो नहीं मानता:—

राधा नैन नीर भरि आये
कब धौं मिलैं श्यामसुन्दर सखि यदपि निकट हैं आये!

भगवान् लावलश्कर के साथ आए हैं, दासदासियों की इतनी घटा वस्त्राभूषणों की ऐसी छटा व्रजवासियों के निकट अत्यन्त अपरिचित है। गुड़ियों के खेल वाले कृष्ण ये नहीं हैं, पनघट की दान लीला वाले कृष्ण ये नहीं हैं, शरत-पूर्णिमा के रासविहारी कृष्ण ये नहीं हैं, ये महाराज हैं। उनकी अभ्यर्थना करने के लिये व्रज की गोपियां खड़ी हो गईं राधिका भी अपनी मर्मव्यथा के भार से दबकी हुई एक तरफ खड़ी हो गईं। महाराजाधिराज श्रीकृष्ण अपनी पट्टमहिषी के साथ धूमधाम से निकले और गोपियों के सामने आए। महारानी रुक्मिणी से न रहा गया, पूछ बैठीं—'प्रिय इनमें को वृषभानु किशोरी?' जिस राधिका का नाम लिये बिना भगवान् कोई काम ही नहीं कर

सकते—'जाके गुन गनि गुथति माल कबहूँ उर में नहिं छोरी'—उस वृषभानु लली को देखने की उत्सुकता रुक्मिणी संभाल नहीं सकीं, बोलीं—'नेकु हमें दिखरावहु अपने बालापन की जोरी ?' भगवान् ने रुक्मिणी को दिखाया—'वह देखो जुवतिन में ठाढ़ी नील बसन तन गोरी।'

अन्त में भगवान् राधा को मिले। राधिका उस विशाल ऐश्वर्य को देखकर रुद्धवाक् हो गईं—'सूर' देखि वा प्रभुता उनकी कहि नाहिं आवे बात !' श्रीकृष्ण ने समझा, रुक्मिणी ने भी समझा। वे उन्हें अपने घर लिवा गईं और बहन की तरह बगल में बैठ गईं तब जाकर 'सूरदास—प्रभु तहाँ पधारे जहाँ दोऊ ठकुरानी।' और फिर

राधा माधव भेंट भई।
राधा माधव माधव राधा कीट भृंग गति है जु गई।
माधव राधा के रंग राते राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि न गई।

परन्तु बरसाने की उस मुखर बाला के मुँह से एक बात नहीं निकली। आनन्द का यह गंभीर समुद्र किंचिन्मात्र चंचल नहीं हुआ, भगवान् के चले जाने पर सिर्फ पछता के रह गईं—

करत कछु नाहीं आज बनी।
हरि आये हौं रही ठगी-सी जैसे चित्तधनी।
आसन हरषि हृदय नहिं दीनो कमलकुटी अपनी।
न्यवछावर उर अरघ न अंचल जलधारा जु बनी।
कंचुकी तैं कुच-कलश प्रकट है टूटि न तरक तनी।
अब उपजी अतिलाज मनहि मन समुझत निज करनी !

सूरसागर की यही विरहविधुरा राधिका हैं। इस राधिका के आत्म-समपर्ण में एक ऐसा गांभीर्य है जो अन्यत्र दुर्लभ है। वे भगवान् को अपना सर्वस्व दे देंगी बशर्ते कि भगवान् चाहें। श्रीकृष्ण को पाना उनका लक्ष्य नहीं है, श्रीकृष्ण का तृप्त होना ही लक्ष्य है। हृदयधन को क्षण भर के लिये भी

देख लेने की व्याकुलता से उनका हृदय टूक-टूक हो जाता है तथापि वे यह नहीं कहती कि श्रीकृष्ण उनके साथ वही पुरानी केलि आरंभ करें। राधिका का शरीर मन प्राण केवल एक ही उपादान से गठित है—उनकी तृप्ति। रह-रह कर मन में प्रश्न उठता है कि क्या महाकाव्य के भीतर से इससे अधिक सुन्दर प्रेममूर्ति की रचना हो सकती थी और क्या नाना भाँति के पहाड़ों, नदियों, दुःख-सुखों, कर्तव्य- अकर्तव्य के वयाख्यानों के भीतर घसीटने से राधिका का राधिकात्व ही नहीं नष्ट हो जाता? क्यों लोग व्यर्थ ही अफ़सोस किया करते हैं कि सूरदास ने महाकाव्य न लिखकर......! इत्यादि।

---

३१. दसवीं शताब्दी से समाज में विभेद सृष्टि का आरंभ

भक्ति साधनाओं की चर्चा करते-करते हम कुछ दूर तक चले आए। धार्मिक साधनाओं की ठीक-ठीक जानकारी के लिये उस काल की सामाजिक पृष्ठभूमि की जानकारी आवश्यक है। हमने पहले भी लक्ष्य किया है कि इस देश में नाना ऐतिहासिक कारणों से छूत-छात और बहिर्विवाह का वर्जन बना हुआ था। परन्तु दसवीं शताब्दी के आरंभ से इस भेद-विभेद ने बहुत ही कठोर रूप धारण किया। जब तक हमें कठोर रूप का ठीक-ठीक परिचय नहीं मिलेगा तब तक यह समझना कठिन ही होगा कि क्यों हजारों साधु-संप्रदाय मध्यकाल में बन गए। वैराग्य का ऐसा विकृत रूप क्यों हुआ। वस्तुतः जाति-पाँति का शिकंजा इतना कठोर था कि उससे बचने का एक ही उपाय रह गया था—साधु हो जाना। अन्त तक यह उपाय भी बहुत सफल नहीं सिद्ध हुआ। सो, विविध सम्प्रदायों के संघटित होने में जाति-प्रथा की कठोरता का मामूली हाथ नहीं था। यह विचित्र बात है कि जिस समय भारतवर्ष में जाति-पाँति को तोड़ने वाली संस्कृत ने प्रबल प्रताप के साथ आक्रमण करना शुरू किया और अन्त तक इस देश में अपना शासन स्थापित करने में सफलता पाई उसी समय जाति-पाँति का बन्धन और भी कठोर हो गया। इस विरोधाभास का कारण क्या है। तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थिति के सिंहावलोकन से ही उसका कुछ कारण समझ में आ सकता है।

गुप्तों के बाद ५५० ई० में कान्यकुब्ज में मौखरी शक्तिशाली राजा हुए। बाद में श्रीहर्ष का बहुत ही सुसंगठित प्रभावशाली राज्य यहाँ स्थापित हुआ। उसके सेनापति भंडि और उसके वंशजों ने भी इस भूभाग पर शासन किया पर नवीं शताब्दी के प्रारंभ में उनकी शक्ति क्षीण हो गई। इन तीन शताब्दियों में कान्यकुब्ज सब प्रकार से समृद्ध और शक्तिशाली राज्य था। जब नवीं शताब्दी में इसके शासक भंडि एकदम अशक्त हो गए तो भी

राजलक्ष्मी कन्नौज छोड़ने को तैयार नहीं थी। उस समय बंगाल में पालों का राज्य था जो पहले कई बार इस राजलक्ष्मी को अपनी गृहलक्ष्मी रूप में प्राप्त करने का प्रयत्न कर चुके थे। दक्षिण में राष्ट्रकूटों का शक्तिशाली राज्य था जिसका उदय आठवीं शताब्दी के मध्यभाग में हुआ था और लगभग सवा दो सौ वर्षों तक उन्होंने प्रबल प्रताप के साथ शासन किया था। कभी-कभी उनकी तलवार गंगा-यमुना के द्वावे में भी झनझना उठती थी और कान्यकुब्ज राजलक्ष्मी को वरण करने के लिये तो इन लोगों ने भी कुछ उठा नहीं रखा। उधर पश्चिम भारत के प्रतीहार भी बहुत शक्तिशाली थे और उन्होंने भी कान्यकुब्ज को हथियाना चाहा था। इस प्रकार नवीं शताब्दी में कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी काफी खींचतान में पड़ी थी। सन् ८१५ ई० में प्रतीहार नागभट्ट ने कान्यकुब्ज पर अधिकार किया और उसी समय से कान्यकुब्ज की राजलक्ष्मी प्रतीहारों की हो रही। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत की तीन प्रधान राजशक्तियां थीं। कान्यकुब्ज के प्रतीहार, गौड़ के पाल और मान्यखेट के राष्ट्रकूट। इनमें परस्पर प्रतिस्पर्द्धा थी। उधर उत्तर-पश्चिम सीमान्त से मुसलामानों का आक्रमण शुरू हो गया था। सिंध में उनकी जड़ भी जम चुकी थी।

सन् १०१८ ई० में प्रतीहार राजा राज्यपाल महमूद से पराजित हुआ और उसकी अधीनता भी स्वीकार कर ली। जान पड़ता है कि राजपूत राजाओं ने उसके इस आचरण को पसन्द नहीं किया और कई अधीनस्थ राजाओं ने मिलकर उसे मार डाला और उसके पुत्र को गद्दी पर बैठा दिया। परन्तु प्रतीहारों का सूर्य अस्त हो गया। केन्द्रीय शक्ति के दुर्बल हो जाने के कारण कलिंजर के चन्देल, त्रिपुर या तेवार के कलचुरि और सांभर के चौहान स्वतंत्र हो गए। इसके बाद का काल राजपूत राजाओं के परस्पर विवाद और एक-एक करके मिटने का काल है। ये राजे परस्पर भी जूझते रहे और मुस्लिम आक्रमण से भी लोहा लेते रहे।

त्रिपुरी के कलचुरियों में कर्ण नाम का अत्यन्त प्रतापशाली राजा हुआ जो संभवतः सन् १०३८ से १०८० ईस्वी तक राज्य करता रहा। उसने

दक्षिण में चोल-पाण्ड्यों तक को जीत लिया और उत्तर में उसकी विजय ध्वजा काशी, कोशल और चम्पारन तक फहराई। त्रिपुर का ही अपभ्रंश रूप तेवार है। राजा कर्ण के साथ शाण्डिल्य-गोत्रीय 'तेवारी' ब्राह्मण आए जो सरयू पार में अब भी श्रेष्ठ ब्राह्मण माने जाते हैं। इन ब्राह्मणों की अनुश्रुतियों से ज्ञात पड़ता है कि ये भी मूलतः कान्यकुब्ज ब्राह्मण ही हैं। राजा कर्ण ने सरयू पार में ब्राह्मणों को बहुत भूमिदान दी थी। उसके कुछ दानपत्र गोरखपुर ज़िले में पाए गए हैं। कर्ण का राज्य इस इलाके में ज़्यादा दिन नहीं टिक सका और ऐसा जान पड़ता है कि उसने जिन ब्राह्मणों को दान देकर इधर बसाया था वे आगे चलकर राज्याश्रय नहीं पा सके। ऐसा जान पड़ता है कि गोंड राजाओं के अभ्युदय के बाद इनमें से कुछ घर फिर अपने पुराने निवासस्थान की ओर लौट गए।

सन् १०८० में कान्यकुब्ज और काशी तथा कर्ण के जीते हुए आस-पास के प्रदेशों पर गाहड़वार वंशी राजा चंद्र का अधिकार हो गया। यह बहुत प्रतापशाली राजा था। महमूद के आक्रमण और राज्यपाल के पतन के बाद दिल्ली से लेकर बिहार तक के उस प्रदेश में, जिसकी भाषा आज हिंदी है, घोर अराजकता फैल गई थी। गाहड़वाल वंश के शिलालेखों में गर्व-पूर्वक स्मरण किया गया है कि श्री चन्द्रदेव ने अपने उदारतर प्रताप से प्रजा के अशेष उपद्रव का शमन कर दिया था—येनोदारतर प्रताप शमिताशेष-प्रजोपद्रवं—सो, इस वंश के राजाओं को प्रजा ने बड़े प्रेम से सिर-माथे लिया। इस प्रकार कन्नौज, काशी और अवध तथा बिहार का कुछ हिस्सा गाहड़वार राजाओं के हाथ लगभग दो सौ वर्षों तक रहा। इस वंश के सबसे प्रतापशाली राजा गोविन्द चन्द्र (१११४-११५५) थे। एक तरफ तो इन्हें दुर्दान्त गौड़ राजाओं से लोहा लेना पड़ता था जो मौक़ा पाते ही कान्यकुब्ज को हड़प लेने को तत्पर रहते थे। इनके पास हाथियों की प्रचण्ड सेना थी। दूसरी ओर महमूद के सेनापतियों से निरन्तर टक्कर लेना पड़ता था। गोविन्द चंद्र के घोड़ों की टाप पंजाब के किनारे से लेकर बंगाल की पश्चिमी सीमा तक निरन्तर सुनाई पड़ती थी। अपनी प्रशस्तियों में उसने अपने को उस भूमि का

अधिकारी घोषित किया है जो उनके निरन्तर दौड़ते रहने वाले घोड़ों के टाप की मुद्रा से मुद्रित थी ![1] लगभग आधी शताब्दी तक इस प्रबल-पराक्रान्त राजा के शासन में उस एकता का सूत्रपात हुआ जिसका आज भी हिंदी भाषी जनता उपभोग कर रही है। गोविदचंद्र के काल में कान्यकुब्ज गौरव फिर से प्रतिष्ठित हुआ। इस राजा ने दक्षिण से बुलाकर बहुत से ब्राह्मणों को भूमि दान दिया था। विक्रमादित्य की भाँति गोविंद चंद्र भी संस्कृत के पक्षपाती थे। यद्यपि वे अपने को परम माहेश्वर कहते हैं तथापि उन्होंने विष्णु मंदिर भी बनवाए और विष्णु के वे भक्त भी थे। परन्तु इस राजा के काल में प्रोत्साहन बराबर संस्कृत भाषा को और ब्राह्मण धर्म को मिलता रहा। जिस प्रकार गौड़ के पाल राजा और गुजरात के सोलंकी देशभाषा तथा मालवा के परमार देशभाषा को प्रोत्साहन दे रहे थे उस प्रकार का कोई प्रोत्साहन इस दरबार से नहीं मिल रहा था।

अब तक दसवीं शताब्दी तक के जितने दानपत्र प्राप्त हुए हैं उनमें ब्राह्मणों के केवल गोत्र और शाखाओं की ही चर्चा है। ऊपर बताया गया है कि कलचुरि राजा कर्ण ने कुछ दिनों के लिये काशी, सरयूपार और उत्तरी विहार के चम्पारण्य भूभाग पर राज्य किया था। सन् १०७७ ई० का एक कलचुरि दानपत्र गोरखपुर जिले के काहल नामक ग्राम में प्राप्त हुआ है जिसमें प्रथम बार ब्राह्मणों के गोत्र-प्रवर के साथ गांव के नाम का भी उल्लेख है। यहाँ प्रदेश का नाम नहीं मिलता, संभवतः वह बिना निर्देश के भी समझ लिया जाता था उन दिनों केवल गांव का नाम मिलता है। सरयूपारी ब्राह्मणों में आज भी गांव के नाम से परिचय देने की प्रथा है जो संभवतः त्रिपुर या

[1] दुर्वारस्फारगौडद्विरदवरघटाकुंभनिर्वेदभीमो
हम्मीरं न्यस्तवैरंमुहुरिह समरक्रीडया यो विधत्ते।
शश्वत्संचारि वल्गत्तुरंगखुरपुटोल्लेखमुद्रासनाथ—
क्षोणीस्वीकारदक्षः सइह विजयते प्रार्थनाकल्पवृक्षः।
—११०६ ई० का दानपत्र (एपिग्राफिका इंडिया जिल्द १८ पृ० १५)

तेवार के स्मृति रूप में जी रही है। संवत् ११६६ अर्थात् सन् ११०६ ई० के गोविन्दचंद्र वाले दान पत्र में भी गुणचंद्र को भट्ट ब्राह्मण गागू का पौत्र, रिल्हे का पुत्र और भट्ट कवड ग्राम का निवासी बताया गया है। बाद में यह प्रथा खूब तेज़ी से चल पड़ी। इसके बाद की प्रशस्तियों में देश का नाम भी जुड़ा मिलता है। गुजरात के कुमारपाल की प्रशस्ति (सन् ११५१) में 'नागर' ब्राह्मण का उल्लेख है। गाहड वालों के दानपत्रों में ठक्कुर और राउत ब्राह्मणों की चर्चा मिलती है। 'राउत' शब्द से ध्वनि निकलती है कि ये ब्राह्मण कभी 'राजपुत्र' का सम्मान पाने वाले थे। महमूद के आक्रमण के पहले गज़नी और काश्मीर में ब्राह्मणों के राज्य थे और पंजाब में ब्राह्मण राजा थे। संभवतः ऐसे ही किसी राजवंश के ब्राह्मण 'राउत' कहे जाते होंगे। जो हो, ये उपाधियां प्रदेश वाचक नहीं कही जा सकती यद्यपि इनमें भी पुराने गौरव की स्मृति बचाने का प्रयत्न है जो विभेद का एक कारण बना रहा है। इस काल के बाद गोत्र और प्रवर का स्थान गौण हो जाता है और प्रदेश-वाची विशेषण प्रधान हो जाता है। सन् १२२६ के एक परमार दान पत्र में पंडित, दीक्षित, द्विवेदी, चतुर्वेदी आवस्थिक आदि उपाधियुक्त नाम मिलने लगते हैं (E. 9. IX, P. 108, 121) और सन् ११७७ ई० के जयचंद्र के दान पत्र में प्रथम बार ब्राह्मणों के नाम के आगे (E. 9. IV P. 129) सम्मान सूचक 'पंडित' शब्द का व्यवहार पाया जाता है। कई जगह केवल उसका संक्षिप्त रूप पं० मिलता है जो आज भी हिंदी भाषी क्षेत्रों में प्रचलित है।

इसी समय से ब्राह्मणों के अनेक जातिवाचक विशेषणों का प्रयोग मिलने लगता है। जहाँ पहले गोत्र और प्रवर ही व्यावर्तक समझे जाते थे वहाँ अब देशवाचक अध्ययन-सूचक, ग्राम निर्देशक और सम्मान सूचक विशेषणों की चर्चा आने लगती है। परवर्ती काल में दुबे, चौबे, मिसिर, सुकुल, उपाध्याय, नागर, गौड़ आदि विशेषणों में इन्हीं विभिन्न अर्थ के विशेषणों का प्रयोग है। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के दान-पत्रों में इन विशेषण का प्रयोग पहले बहुत थोड़ी मात्रा में मिलता है, बाद में अनिवार्य

रूप में आने लगता है। ऊपर जयचंद्र देव के जिस दान पत्र की चर्चा की गई है उसमें एक ब्राह्मण के नाम के साथ 'द्विवेद' उपाधि है। एपिग्राफिका इंडिका की १६ वीं जिल्द (पृ० ३५३) में छपे एक दानपत्र में एक उपाधि 'कर्णाट द्विवेद ठक्कुर' है जो प्रदेश विद्या और पूर्ववर्ती अधिकार तीनों की सूचना देता है।

इस प्रकार इस काल में पढ़े लिखे ब्राह्मणों का प्रयत्न यह था कि वे अपनी पूर्ववर्ती भूमि की स्मृति बनाए रखें और अपने इर्द-गिर्द की जनता से अपने को विशेष समझते रहें। यही हाल उन क्षत्रिय राजाओं का भी था जो बाहर से आकर नया राज्य अधिकार कर लेने के बाद स्थानीय लोगों से अपने को भिन्न और श्रेष्ठ मानते थे। उत्तरी भारत पर निरन्तर विदेशी जातियों के हमले होते रहे और राजलक्ष्मी ने पुराने क्षत्रियों का साथ कई बार छोड़ दिया था ये क्षत्रिय कृषि और कारबार में लग गए थे। आजकल के उत्तर प्रदेश मध्य प्रदेश और बिहार में बसने वाली अधिकांश बनिया जातियाँ इन्हीं हारे हुए क्षत्रियों की वंशज हैं। इन कृषिजीवी और तुलाजीवी जातियों से अपनी भिन्नता बताने के लिये ही 'राजपुत्र' या 'राजपूत' विशेषण का उद्भव हुआ। इस प्रकार संयोगवश काशी कान्यकुब्ज की शासक जाति भी अपने को जनता से भिन्न और श्रेष्ठ समझती थी और विद्वान् ब्राह्मण भी अपने को जनता से भिन्न और श्रेष्ठ समझते थे। परिणाम यह हुआ कि नवीं शताब्दी के प्रतीहार राजाओं से आरंभ करके १२ वीं शताब्दी तक शासन करने वाले गाहडवार राजाओं तक ने लोक-भाषा और लोक-जीवन की उपेक्षा की। संस्कृत को इस दरबार में पर्याप्त मान मिला और इस काल में काशी भारतवर्ष की सांस्कृतिक राजधानी बनी रही। यहाँ के पंडितों को लिखे निबंधग्रंथ भारतवर्ष के दूसरे प्रदेशों के अधिवासियों के लिये मार्गदर्शक होते रहे। गाहडवाल राजा यद्यपि अपने को 'माहेश्वर' कहते हैं पर वे उतने ही 'वैष्णव भी थे। वे लक्ष्मी के उपासक थे। उनकी प्रशस्तियों के आरंभ ने लक्ष्मी की स्तुति हुआ करती है। यह स्तुति घोर शृंगारी भाषा में है जो उस काल की भक्ति के स्वरूप की सूचना

देती है।[1] वस्तुतः ये लोग स्मार्त थे। इनके काल से काशी स्मार्तों का केन्द्र बनी और 'माहेश्वर' पुरी भी बनी रही। इस प्रदेश के ब्राह्मणों की प्रतिभा का उत्तम रूप हमें संस्कृत-साहित्य में मिल जाता है पर देश की साधारण जनता की बोलचाल की भाषा में क्या लिखा जा रहा था इसका कोई परिचय नहीं मिलता। इस प्रदेश के बाहर के छिटके फुटके प्राप्त साहित्य के आधार पर ही कुछ अनुमान किया जा सकता है।

महमूद ने कई बार आक्रमण करके उत्तरी भारत को आतंकित कर दिया था इसलिये धर्मभीरु ब्राह्मण परिवार उत्तर भारत को छोड़कर ऐसे स्थानों में जाने का प्रयत्न करने लगे जहाँ उन्हें संरक्षण प्राप्त हो सके और वैदिक यज्ञ-याग की क्रिया निर्विघ्न चलती रहे। राज्यपाल के पराजय के बाद अन्तर्वेद में अराजकता फैल गई थी। इस क्षेत्र के ब्राह्मण सदा से उत्तम और पवित्र माने जाते थे। बंगाल के सामन्त या वल्लाल सेन ने जिसका राज्यकाल संभवतः ११ वीं शताब्दी के अन्त में और बारहवीं के आरंभ में कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को अपने देश में बसाया, उड़ीसा के केसरी राजाओं ने भी कान्यकुब्ज ब्राह्मणों को अपने राज्य में बसाया। इसी प्रकार गुजरात के राजा मूलराज और दक्षिण के चोल राजाओं के बारे में भी प्रसिद्धि है कि उन्होंने उत्तर के ब्राह्मणों को बुलवाया था। कुछ ब्राह्मण अपनी इच्छा से दूर-दूर जाकर बसे। इस प्रकार इस काल में एक ओर जहाँ देश की राजशक्ति खण्ड-विच्छिन्न होने लगी वहाँ वेदाध्यायी और संस्कृत विद्या के संरक्षक ब्राह्मणों का भी नाना स्थानों में विभाजन होने लगा। नये प्रदेशों में बसे ब्राह्मण अपने को उस स्थान के लोगों से भिन्न समझने लगे और अपने मूल निवासस्थान की स्मृति बनाए रखने के लिये अपने नामों के साथ अपने प्रदेश के नामों का भी उल्लेख करने लगे। राज्यों के उलट फेर के साथ इन ब्राह्मणों को स्थान

---

[1] ओम् परमात्मने नमः ॥
अकुण्ठोत्कण्ठवैकुण्ठकंठपीठलुठत्करः।
संरंभः सुरतारंभे स श्रियः श्रेयसेऽस्तु वः ॥

बदलना पड़ता था इसलिये वे और भी दृढ़ता के साथ अपने मूलवास स्थानों की स्मृति अपने नाम से जोड़े रहना चाहते थे। दक्षिण उन दिनों अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित स्थान था इसलिये उत्तर के अनेक ब्राह्मण परिवार दक्षिण की ओर चले गए और उधर ही रहने लगे। अवस्था परिवर्तन के साथ-साथ इनमें से कुछ फिर उत्तर की ओर आ गए। इनके साथ अपना भेद बताने के लिये उत्तर के पुराने ब्राह्मणों ने और भी नये विशेषण जोड़े। इस प्रकार ब्राह्मणों की अनेक उपजातियाँ और भेदोपभेद बनते गए। क्षत्रिय शक्ति भी निरन्तर विभाजित हो रही थी और इन उच्च वर्णों के इस प्रकार भेदोपभेद-जनित सावधानी का असर निचली श्रेणियों पर भी पड़ रहा था। इस प्रकार दसवीं शताब्दी के बाद जाति-पांति की व्यवस्था तेज़ी से दृढ़तर होती गई और निरन्तर भेद-विच्छेद की ओर देश को ढकेलती चली गई। इस प्रकार यह एक विचित्र-सी बात है कि जाति-पांति को तोड़नेवाली संस्कृति के आक्रमण ने इस देश के समाज में जाति पांति का भेद भाव और भी अधिक बढ़ा दिया।

---

३२. शैव-साधना के पीछे काम करनेवाली राजशक्तियाँ

दसवीं शताब्दी के अन्त तक दक्षिण में जैन धर्म बहुत प्रभावशाली था। पाण्ड्य और चोल राजाओं ने जैन गुरुओं, मन्दिरों और विहारों को दान दिया था। मैसूर के गांग भी जैन धर्म के अनुयायी थे। जैन पंडितों की विद्वता और तपस्या ने उन दिनों के दक्षिणी राजाओं को आकृष्ट किया था। लेकिन आठवीं शताब्दी के बाद से ही जैनों का प्रभाव घटने लगा। कहते हैं कि संबन्दर नामक शैव साधु ने पांड्य राजाओं के राज से जैन धर्म को उखाड़ दिया और एक दूसरे साधु अप्पर ने पल्लव राजाओं के राज्य से भी जैन धर्म की महिमा कम कर दी। यह आठवीं शताब्दी की बात है। दसवीं शताब्दी के चोल राजा केवल कट्टर शैव ही नहीं हो गए, उन्होंने जैनों पर अत्याचार भी किया। यह विश्वास किया जाता है कि चोलों ने जैनों के दमन के लिये अपनी राजनीतिक शक्ति का उपयोग भी किया। आठवीं शताब्दी के अन्त से दसवीं शताब्दी के अन्त तक दक्षिण के राष्ट्र कूट जैन धर्म के प्रेमी रहे। और उनके प्रयत्न से जैन धर्म का बहुत अधिक प्रचार हुआ। मैसूर के गंग राजा तो जैन थे ही। राष्ट्रकूटों का अन्तिम राजा चतुर्थ इन्द्र सुप्रसिद्ध महाराजा कर्ण का पुत्र था और उसकी माता गंग वंश की राज कुमारी थी। इसीलिये इन्द्र बहुत ही धर्म प्रवण राजा हुआ जब चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों पर विजय प्राप्त की तो इन्द्र ने सल्लेखन व्रत के द्वारा अपने जीवन का अन्त कर दिया। इस प्रकार दक्षिणी महाराष्ट्र में दसवीं शताब्दी के अन्त तक जैन धर्म फलता-फूलता रहा। परन्तु पच्छिमी चालुक्य कट्टर शैव थे और उन्होंने जैन प्रभाव को धो-पोंछ देने का प्रयत्न किया। कलचुरियों ने चालुक्यों को परास्त किया और सम्भवतः इस झगड़े के मूल में जैन धर्म का दमन ही प्रधान कारण था, क्योंकि कलचुरि सरदार विज्जन कलचुरि स्वयं जैन था। अनुमान किया जा सकता है कि कलचुरियों ने इस क्षेत्र में जैन धर्म को फिर से प्रतिष्ठित करना

चाहा होगा। यह सन् ११५६ ई० की बात है। परन्तु उनका राज्य स्थायी नहीं हुआ और शैव धर्म लिंगायत रूप में फिर से इस क्षेत्र में प्रतिष्ठित हो गया।

कर्नाटक में बहुत दिनों से गंग वंश का राज्य चल रहा था। सन् १००४ ईस्वी में तंजोर के चोलों ने इनसे राज्य छीन लिया। जैसा कि पहले ही बताया गया है कि गंग जैन थे किन्तु चोल इस काल में कट्टर शैव हो गए थे। अगर चोलों का राज्य स्थायी हो गया होता, तो सम्भवतः इस क्षेत्र से भी जैन धर्म के पैर उखड़ जाते। पर थोड़े दिन बाद ही गंगवाड़ी में होयसल राजाओं का राज्य हो गया, जो जैन धर्म के अनुयायी थे। इस वंश का विष्णुवर्धन नामक राजा रामानुज के प्रभाव से वैष्णव धर्म का अनुयायी हो गया और तब से मैसूर की भूमि में वैष्णव धर्म ने दृढ़ता पूर्वक पैर जमा लिया है। इस प्रकार मैसूर में वैष्णव राजा के प्रतिष्ठित होने के कारण, तमिलदेश में चोल राजाओं द्वारा दमन किए जाने के कारण और दक्षिणी महाराष्ट्र में लिंगायतों के द्वारा स्थान च्युत किए जाने के कारण दक्षिण भारत में जैन धर्म ने अन्तिम सांस ली। यद्यपि कुछ छिट फुट अनुयायी उसके बाद में भी रह गए, परन्तु बाद में जैन धर्म वहाँ कभी सिर उठाने के काबिल नहीं रह गया। आन्ध्र देश में भी जैनों की परम्परा से ज्ञात होता है कि शैव धर्म ने ही वहाँ जैन धर्म को प्रभावहीन बनाया। पूर्वी चालुक्य राजे परवर्ती काल में शैव कवियों के आश्रय दाता बने। इन्हीं कवियों में से सुप्रसिद्ध नन्नय कवि हैं, जिसने महाभारत का तेलगू में अनुवाद किया और पौराणिक शैव धर्म की महत्ता स्थापित की। पूर्व के गंग वंशी राजे भी शैव थे और वारंगल के काकतीय वंशी राजे भी शैव ही थे। इन सब शक्तियों ने दक्षिण में जैन धर्म को प्रभावहीन बनाने में योग दिया। ऐसा लगता है कि दसवीं शताब्दी का सबसे प्रभावशाली धर्म शैव मत ही था। दक्षिण से उसने जैन धर्म को एक दम उखाड़ दिया और उत्तर में बचे खुचे बौद्ध प्रभाव को आत्मसात् कर लिया। उत्तर के नाथ पंथ में अनेक बौद्ध सम्प्रदाय अन्तर्भुक्त हो गए, जिसकी चर्चा हम आगे कर रहे हैं।

इस बात विश्वास करने के प्रचुर कारण हैं कि मुसलिम आक्रमण के समय उत्तर भारत में ऐसे अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जो ब्राह्मण धर्म से दूर पड़ते थे। उन दिनों बौद्ध और कापालिक तो वेद विरोधी थे ही, शैवों के अनेक मतों को भी वेद विरुद्ध माना जाता था। गोरख पंथियों में प्रसिद्ध है कि गोरखनाथ के पहले स्वयं गोरखनाथ चलाये हुए बारह सम्प्रदाय थे और शिवजी के चलाये हुए बारह या अठारह सम्प्रदाय थे। इनमें से कई को नष्ट करके गोरखनाथ ने छै अपने और छै शिवजी के सम्प्रदायों को लेकर बारह पंथी योग-मार्ग का प्रवर्तन किया। इस परम्परा से यह स्पष्ट है कि गोरखनाथ के पहले उत्तर भारत में अनेक शैवमत प्रचलित थे, जिनमें से केवल छै को गोरखनाथ ने अपने सम्प्रदाय में लेने के योग्य समझा था। अपने "नाथ सम्प्रदाय" नामक ग्रन्थ में मैंने दिखाया है कि इस जनुश्रुतिका क्या अर्थ हो सकता है। गोरखनाथ के पूर्व ऐसे बहुत से शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे, जो वेद बाह्य होने के कारण वैदिक धर्म के अनुयायी नहीं माने जाते थे। जब मुसलमानी धर्म प्रथम बार इस देश में प्रविष्ट हुआ तो दो देश दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मसाधनामूलक दलों में विभक्त हो गया। जो शैव मार्ग और शाक्त मार्ग वेदानुयायी थे, वे बृहत्तर ब्राह्मण-प्रधान हिन्दू समाज में मिलते गए और निरन्तर अपने को कहा वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे। यह प्रयत्न आज भी जारी है। उत्तर भारत में ऐसे अनेक सम्प्रदाय थे, जो वेदबाह्य होकर भी वेदसम्मत योग साधना या पौराणिक देव देवियों की उपासना किया करते थे। ये अपने को शैव, शाक्त और योगी कहते रहे। गोरक्षनाथ ने उनको दो प्रधान दलों का पाया होगा। एक तो वे जो योग-मार्ग के अनुयायी थे, परन्तु शैव या शाक्त नहीं थे और दूसरे वे जो शिव या शक्ति के उपासक थे; परन्तु गोरक्ष-सम्मत योग मार्ग के उतने नजदीक नहीं थे। इन्हीं दोनों दलों में से कुछ को गोरखनाथ ने अपने बारह पंथी मार्ग में चुन लिया होगा। वर्तमान नाथ पंथ में शक्ति मत भी हैं, लकुलीश पाशुपतों का मत भी है, वैष्णव योग मार्ग भी और वामवार्मी और कापालिक मत भी हैं। इनका विस्तार-पूर्वक विवेचन मैंने अपनी पुस्तक के

तेरहवें अध्याय में किया है। यहाँ प्रकृत इतना ही है कि दक्षिण भारत की भाँति उत्तर भारत में भी शैवमत उन दिनों सबसे प्रबल धर्म मत था और इनमें भी नाथ पंथी योगियों का प्रभाव सबसे अधिक था।

परन्तु शैव धर्म उत्तर भारत में उतना आक्रामक नहीं हुआ, जितना दक्षिण में था। इसका कारण यह था कि उत्तर भारत पर मुसलमानों के हमले निरन्तर हो रहे थे और यहाँ की साधारण जनता और राजशक्तियों में इस सम्पूर्ण विवर्गत धर्मी संस्कृति के प्रति शंका का भाव उत्पन्न हो गया था। इसीलिये दक्षिण में जो धर्म मत अत्यन्त आक्रामक रूप में प्रकट हुए वे भी उत्तर भारत में एक साथ बिना किसी विरोध के फलने फूलने लगे। राजपूताने के अनेक राजवंश शैव धर्म के अनुयायी थे। मेवाड़ के बाप्पा रावल लकुलीश पाशुपत मत के अनुयायी थे। उनके नाम के साथ लगा हुआ 'रावल' शब्द सम्प्रदाय वाचक 'लाकुल' शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। इस दरबार में जैनों और वैष्णवों का भी सम्मान होता रहा। इसी प्रकार सांभर के चौहान और मालवा के परमार भी शैव ही थे। गुजरात के मूलराज प्रसिद्ध शिव भक्त थे। फिर भी इन राजाओं के दरबार में जैन मुनियों का समादर होता रहा और कभी कभी गुजरात के किसी किसी राजा ने जैन धर्म की दीक्षा भी ले ली। गुजरात के कुमारपाल के विषय में प्रसिद्ध है कि वे सुप्रसिद्ध हेमचन्द्राचार्य के शिष्य हो गए थे। गुजरात में जैन धर्म में भी फलता फूलता रहा; किन्तु धीरे-धीरे वह केवल व्यावसायिक जाति में ही सीमित रह गया। ग्यारहवीं शताब्दी के आस पास राजपूताने के सभी बड़े दरबारों में जैन मुनियों की पहुँच थी। किन्तु काशी-कन्नौज का गाहड़वाल दरबार कट्टर वेदानुयायी था। वे अपने को माहेश्वर या शैव कहते हैं। किन्तु वे विष्णु के भी उतने ही भक्त थे और अपनी सभी प्रशास्तियों में वे लक्ष्मी और नारायण की वन्दना करते हैं। इस प्रकार जिन प्रदेशों की भाषा आज हिन्दी है, वहाँ ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में कट्टर वैदिक मतानुयायी राजाओं का राज्य था और संस्कृत के कवियों और पंडितों का ही सम्मान था। यद्यपि ये राजा अपने को माहेश्वर ही कहते रहे; पर थे वे वस्तुतः स्मार्त परन्तु इनके सभी विश्वासों में जैनों द्वारा प्राचीन जीव

दया और प्राणि हत्या से बचने का प्रयत्न प्रभावशाली था। वस्तुतः शैव और वैष्णव धर्मों ने यद्यपि दक्षिण के जैन धर्म को उखाड़ दिया था तथापि जैनों के इस सिद्धान्त को उन्होंने स्वीकार कर लिया था और परवर्ती काल का वैष्णव सम्प्रदाय प्राणि हत्या से उसी प्रकार बचने का प्रयत्न करता रहा जिस प्रकार जैन धर्म करता रहा।

---

३३. गुणमय रूप की उपासना

उत्तर भारत के नाथ शैव मत का झुकाव निर्गुण उपासना की ओर था। भक्ति इस साधना में अपरिचित वस्तु है। तुलसीदास जी ने गोरख को भक्ति का विरोधी बताया था। इस संप्रदाय के साधक वर्णव्यवस्था और गृहस्थ के मायामुग्ध जीवन पर आक्रमण मूलक उक्तियाँ कह गए हैं। जो लोग हठयोग की साधना नहीं करते, गृहस्थी की चक्की में पिस रहे हैं, कामिनी-काञ्चन के भुलावे में पड़े हुए हैं वे उनकी दया के पात्र हैं, वे चौरासी लाख योनियों में भटकने वाले संसार-कीट हैं, वे दयनीय हैं। किन्तु वैष्णव साधकों में एक विशेष प्रकार की मृदुता रही है। उन्होंने किसी को भी कटु बात नहीं कही। भक्ति उनकी प्रेरक शक्ति थी और अहिंसा उनका मूलमंत्र। मन वचन और कर्म से अहिंसक रहना उनकी साधना की प्रथम प्रक्रिया थी। इन वैष्णवों के दो रूप हैं—एक तो निर्गुण मार्गी दूसरे सगुण मार्गी। सामाजिक बातों के इनमें मतभेद हैं। इसी बात में वे एक दूसरे पर आक्रमण भी करते हैं। परन्तु धर्मसाधना के क्षेत्र में दोनों की प्रेरक शक्ति भक्ति ही है।

दोनों में प्रधान भेद रूपोपासना के विषय में है। दूसरे श्रेणी के अर्थात् सगुण मार्गी भक्त ठोस रूप के उपासक हैं। सूरदास कहते हैं—

सुन्दर मुख की बलि बलि जाउँ।
लावन-निधि, गुन-निधि, शोभा-निधि,
निरखि निरखि जीवत सब गाउँ॥
अङ्ग अङ्ग प्रति अमित माधुरी
प्रगटित रस रुचि ठाउँ ठाउँ।
तामें मृदु मुसकानि मनोहर
न्याय कहत कवि मोहन नाउँ॥

नैन सैन दै दै जब बोलत
ता पर हौं बिन मोल बिकाउँ ।
सूरदास—प्रभु मदन मोहन छवि
यह शोभा उपमा नहि पाउँ ॥

सूरदास के प्रभु की इस मदन मोहन छवि की उपमा सचमुच संसार में नहीं है। भक्त केवल उस 'कुटिल त्रिभुरे कच' वाले मुख के ऊपरी सौंदर्य पर ही इतना अधिक भाव-मुग्ध हुआ हो, यह बात संसार की साधना में अद्वितीय है। यह भाव एकमात्र भारतीय वैष्णव कवियों की साधना में सर्व-प्रथम और शायद सबसे अन्त में, अभिव्यक्त हुआ है। वैष्णव कवियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक में वे भक्त हैं जो भक्त या साधक पहले हैं, कवि बाद में। दूसरी श्रेणी में उन कवियों को रखा जा सकता है जो कवि पहिले हैं भक्त बाद में। सूरदास और तुलसीदास पहिली श्रेणी में आते हैं; देव, बिहारी और मतिराम दूसरी में। सूरदास उपरिलिखित भजन में कहते हैं कि इस 'लावण्यनिधि' शोभानिधि, गुणनिधि' गोपाल को कवि 'मोहन' कहते हैं, यह बात उचित ही है। पर स्वयं सूरदास, कवि की उक्ति तक ही आकर नहीं रुक सकते, वे साधक हैं, वे आगे बढ़ते हैं—'नैन सैन दै दै जब बोलत ता पर हौं बिन मोल बिकाउँ !' कवि और साधक वैष्णव यहीं आकर अलग हो जाते हैं। कवि इस रूपातीत को एक नाम देकर, एक मोहक आख्या देकर, अपने कवि स्वभाव के औचित्य की सीमा तक जाकर रुक जाता है। साधक आगे बढ़ता है और उत्सर्ग कर देता है अपने को उस मनोहारी सैन पर, उस रमणीय बोल पर—सो भी बिना मोल !

वैष्णव कवियों के इन दो रूपों को न समझने के कारण आज का समालोचक नाना प्रकार की कटूक्तियों से साहित्यिक वातावरण को क्षुब्ध कर रहा है। आज के कार्यबहुल काल में मनुष्य की ललित भावनाएँ खण्ड-भाव से प्रकट हो रही हैं। किसीको इस समय एक समग्र साहित्य को न तो समझने की फुरसत है और न रचना करने की। काव्य में यह लिरिक् का युग है, कथा में छोटी कहानी का और चित्रकला में विच्छिन्न चित्रों का,

पर इसलिये इन विच्छिन्न चेष्टाओं को विच्छिन्न भाव से देखना तो वास्तविक देखना नहीं है। इस युग की काव्य-चेष्टा को समझने के लिये अतीत युग की काव्य-चेष्टा का ज्ञान आवश्यक है। इस देश का साहित्य समझने के लिये देशान्तर के साहित्य को समझने की जरूरत है—विच्छिन्न काव्य-चेष्टा के वर्तमान युग को समझने के लिये देशान्तर और कालान्तर नितान्त आवश्यक हैं। पर प्राचीन युग के साहित्य को समझने के लिये केवल प्राचीनतर साहित्य ही आवश्यक नहीं है, आधुनिक मनोवृत्ति का अध्ययन भी आवश्यक है। हमें अगर सूरदास या नन्ददास को समझना है तो उसका प्रधान उपकरण हमारी आधुनिक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति से उस युग की मनोवृत्ति का ठीक मेल नहीं भी हो सकता। आज सौन्दर्य और लालित्य का मानदण्ड बदल गया है। इस मानदण्ड से प्राचीन लालित्य को समझना सब समय सुलभ नहीं हो सकता। इस मनोवृत्ति को लेकर अगर प्राचीन कविताओं का अध्ययन किया जायगा, तो अनर्थ की सम्भावना है। उपनिषद् के एक मन्त्र में कहा गया है 'आत्मा को जानकर परमात्मा को जानना चाहिए।' इस कथन को बदलकर कहा जा सकता है कि अभिनव मनोवृत्ति को समझ कर प्राचीन मनोवृत्ति को समझना चाहिए।

मि० रोसेनकोपे ने सन् १६१४ में (Lectures on Aesthetics, London University) कहा था कि सन् १८६० ई० से इंग्लैण्ड के सर्वसाधारण का चित्त परियों के रम्य लोक से हटकर सरल सहज कल्पना और मानवता की ओर अग्रसर हुआ है।' इस वक्तव्य को कुछ बदलकर भारतवर्ष के बारे में भी कहा जा सकता है। कम से कम इस शताब्दी में भारतीय चित्त भी कृष्ण और राधिका के विचार ललित और भाव-मधुर गोलोक से उतरकर सहज मानव-गृह की ओर गया है। वस्तुतः आज भारतवर्ष का चित्त भी संसार के अन्य देशों की तरह एक महा परिवर्तन की ऊर्मि-प्रत्यूर्मि से आन्दोलित हो उठा है। एक ही साथ इस देश में इतने तरह की विचार धाराएँ आ टकराई हैं कि उनके आवर्त-दुर्धर तरङ्गराजि में भारतीय चित्त कुछ हतबुद्धि-सा हो गया है। यूरोप में चौदहवीं शताब्दी में

ही मानवचित्त स्वर्ग से हट कर मर्त्य की ओर अग्रसर हो गया था। मर्त्य की ओर आकर भी वह एक बार विस्मृत परीलोक की ओर धावित हुआ था। बीच में उसे तैयार होने का पर्याप्त अवसर मिला था। परन्तु यह सौभाग्य भारतवर्ष को न प्राप्त हो सका। एक ही साथ इतने वादों की बाढ़ यहाँ आई कि आज का नव-शिक्षित समालोचक चकित-थकित की भाँति कर्तव्य-मूढ़ हो उठा है।

भारतीय समालोचक एक बार टेनिसन जैसे धार्मिक–भावापन्न कवि की कविता से मुग्ध होकर वैष्णव कवियों की ओर प्रश्न–भरी दृष्टि से देखता है, एक बार कीट्स की अस्तमित–तत्त्वा आनन्दमयी उक्तियों से चकित होकर देव और बिहारी में उस भाव को खोजता है, एक बार बायरन के तत्त्व–गम्भीर आख्यान–काव्यों का आनन्द लेकर कबीर और दादू की ओर दौड़ता है, एक बार ईसाई भक्तों की गलदश्रु–भावुकता से विमुग्ध होकर रसखान और घन आनन्द की ओर ताकता है और अंत में सर्वत्र निराश होकर क्षुब्ध हो उठता है। नवीन आलोचक इस महा विकट युग में सबसे अधिक रूप के भीतर अरूप की सत्ता, खोजने में अपना समय नष्ट करता है। पर हाय, नाना अभिनव वादों के तरंगाघात से जर्जर उसकी चित्त–तरी अधिकाधिक भ्रान्त हो उठती है!

एक बार इंग्लैण्ड में ग्रीक नाटकों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन हुआ था। कहा गया था कि वह असमीचीन और अस्वाभाविक हैं, अमार्जित और कुरुचिपूर्ण हैं। पर शीघ्र ही इस भूल का सुधार हुआ। अंग्रेज़ मनीषियों ने आलोचनात्मक प्रबन्धों से अंग्रेज़ मस्तिष्क को उस सौन्दर्य का अधिकारी बनाया। ग्रीक नाटकों को ह्यूमेनिस्टिक या मानवीय–रस–मूलक कहा गया था। कहना न होगा कि आज का यूरोपीय साहित्य कम मानवीय नहीं है, पर ग्रीकों के मानव–आदर्श और वर्तमान युग के मानव–आदर्श एक ही नहीं हैं। ब्रजभाषा कवियों की रूपोपासना को मानवीय कहा जा सकता है, ब्रज का कवि कभी कृष्ण या राधिका के रूप में अमानव रस का आरोप नहीं करता। वह केवल एक बार स्वीकार कर लेता है कि उसका

प्रतिपाद्य अतिमानव या सुपर-ह्यूमन है, पर इस स्वीकारोक्ति से उसके रस-बोध में कहीं भी कमी नहीं आती। वह ईसा मसीह के भावुक भक्तों की भाँति सदा अपने प्रभु को दैवी प्रतीक या दैवी मध्यस्थ नहीं समझता। कहें तो कह सकते हैं कि ब्रज का कवि भी मानवीय है। पर ग्रीक कवि, आज के नाटककार, और ब्रजभाषा के कवि की मानवता की कल्पना में आकाश-पाताल का अन्तर है। तीनों तीन चीज़ें हैं—एक दम अलग-अलग।

ग्रीक नाटकों और मूर्तियों के साथ प्राचीन ग्रीकों की रीति-नीति, आचार-व्यवहार जटिल भाव से जड़ित थे। ग्रीक आर्ट केवल आर्ट के लिए नहीं था, वह ग्रीकों का जीवन था, ग्रीकों का उत्सव था, ग्रीकों का सर्वस्व था। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि हम आजकल नाटक को जिस दूरस्थ साक्षी की भाँति देखते हैं, ग्रीक उस तरह उसे नहीं देखते थे। ग्रीक दर्शक अभिनेताओं से इतने पृथक् नहीं होते थे। एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ ने नाट्य मंच की आलोचना के प्रसंग में कहा था कि वे जापानी क्लासिकल नाटकों की एक विशेषता देखकर आनन्दित हुए थे। अभिनेता सजकर दर्शकों के बीचोबीच से होकर रंग-मंच की ओर अग्रसर होते थे। यह बात मानों यह घोषित कर रही थी कि अभिनेता दर्शकों से दूर की चीज़ नहीं हैं। ग्रीक नाटकों में शायद ऐसा नहीं होता था पर ग्रीक दर्शक निश्चय ही उसे अपने जीवन का एक स्वाभाविक अंग समझता था।

बौद्ध या हिन्दू देवताओं की मूर्तियों का अपूर्व कारु-कौशल उस प्रकार का हो ही नहीं सकता था, शिल्पकार उसे अपने तन-मन और जीवन से न रचता। ब्रजभाषा के कृष्ण की सारी लीला भी इसी तन-मन और जीवन के ईंट-चूने-गारे से बनी है। कवि ने अपनी मनुष्यता का सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग उस भाव-मधुर रुचिर-छवि की रचना में किया है। वह एकान्त दूर से निरीक्ष्यमाण चित्र नहीं है, वह अन्तर की प्रेम-स्रोतस्विनी की ठोस जमाहट है। वहीं आकर उसकी सारी धारा सार्थक हो गई है रूपांतरित हो गई है। वह किसी तत्त्व, वाद या व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती, वह अपने आप में पूर्ण है; पर आज का नाटक या काव्य या शिल्प न तो उस जीवनमय, किन्तु नित्य-नूतन ग्रीक

मानवीयता के साथ मेल रखता है, और न इस मनोमय किन्तु परिवर्तनातीत भाव मधुर वैष्णव मानवीयता का सादृश्य रखता है। वस्तुतः आज की ललित कला का कोई एक रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। बहुत्वधर्मा, नानामुखी, सान्निध्यापेक्षा इस कला का रूप भविष्य ही निर्णय करेगा।

इसीलिये जब सूरदास रूपातीत को 'मोहन' कहना कवि के लिये 'न्याय' बताते हैं तो उनकी बात सहज ही समझ में आ जाती है। यह रूप अन्य रूपों की भांति आगे बढ़ने का मार्ग नहीं दिखाता, यहाँ आकर सारी गति रुद्ध हो जाती है, सारी वृत्तियाँ मुग्ध हो जाती हैं, सारी चेष्टाएँ व्यर्थता के रूप में सार्थक हो जाती हैं। कवि की सारी सार्थकता इस व्यर्थता में ही है। यह रूप मोहन है। मोहनेवाला, अर्थात् जहाँ जाकर सारी मानसिक वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं। तुलसीदास एक जगह कहते हैं :

> सखि ! रघुनाथ रूप निहारु।
> सरदविधु रवि सुअन मनसिज मान भंजन हारु।
> स्याम सुभग सरीर जनु मन-काम पुरनिहारु॥
> चारु चन्दन मनहुँ मरकत सिखर लसत निहारु।
> रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गज मनिहारु॥
> मनहुँ सुरधुनि नखत गन बिच तिमिर भंजनिहारु।
> विमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-विनिन्दनिहारु॥
> वदन सुषमा सदन सोभित मदन मोहनि हारु।
> सकल अङ्ग अनूप नहिं कोउ सुकवि बरननिहारु॥
> दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनिहारु।

यहाँ भी कवि के उसी रूप का उल्लेख है। ऐसा कोई कवि नहीं जो उस 'सकल अंग अनूप' का वर्णन कर सके। उसके लिये एक शब्द ही उपयुक्त है और इसका उपयोग वह तब करता है जब उसकी उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं, उत्प्रेक्षाएँ रुद्धवेग हो पड़ती हैं रूपक विगत-ऋद्धि हो उठते हैं। उस समय वह एक ही बात कहता है—'वदन सुषमा सदन सोभित मदन-मोहनिहारु।' और यहीं आकर सारा कवित्व पर्यवसित हो जाता है। जिसका रूप एक बार

कवि को भाव—मदिर कर देता है उसे मदन कहा जा सकता है। मदन की यह विशेषता है कि उससे मोह का आवेश बढ़ता है, नई-नई कल्पनाएँ, नये-नये रूपक दर्शक को विह्वल कर देते हैं। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सांसारिकों के रूप में मदन का भाव है—वह मादक होता है, उससे जड़ता आती है। पर कृष्ण का रूप 'मदन मोहन' है वह मादकता को भी मोहित कर देता है। उस मोह का रूप तमःप्रकृतिक नहीं है वह सत्त्व-प्रकृतिक है*। वैष्णव कवि की वाणी का सारा ऐश्वर्य इस 'मदन मोहनिहारु' छवि तक आकर हत-चेष्ट हो जाता है, साधक एक क़दम और आगे बढ़ता है। वह बिना किसी कारण, बिना किसी लाभ के, बिना किसी उद्देश्य के, अपने को उस पर निछावर कर देता है, अपनी सत्ता उसीमें विलीन कर देता है, यही उसका सुख है, यही उसकी चरम आराधना है—'दास तुलसी निरखतहि सुख लहत निरखनिहारु।' देखनेवाला देखने में ही सुख पाता है—केवल देखने में !

कविवर रवीन्द्रनाथ एक स्थान पर लिखते हैं—'जो लोग अनन्त की साधना करते हैं, जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि जो कुछ देख और जान रहे हैं, वही चरम सत्य नहीं है, स्वतंत्र नहीं है, किसी भी क्षण में वह अपने आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं कर सकता;—यदि वे ऐसा करते होते तो सभी स्वयंभू, स्वप्रकाश होकर स्थिर ही रहते। ये जो अन्तहीन स्थिति के द्वारा अन्तहीन गति का निर्देश करते हैं, वही हमारे चित्त का चरम आश्रय और चरम आनन्द है। अतएव आध्यात्मिक साधना कभी रूप की साधना नहीं हो सकती वह सारे रूप के भीतर से चञ्चल रूप के बन्धन को अतिक्रम करके ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु अपने को ही चरम समझने का भान करती है, साधक उस भान के आवरण को भेद कर ही परम पदार्थ को देखना चाहता है। यदि यह नाम-रूप का आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद न कर सकता। यदि ये अविश्रान्त भाव से नित्य प्रवहमान होकर अपनी सीमा को

---

*प्रीतिसंदर्भ, २०३-२१९

आप ही न तोड़ते चलते तो इन्हें छोड़कर मनुष्य के मन में और किसी चिन्ता का स्थान ही न होता तब इन्हें ही सत्य समझ कर हम निश्चिन्त हो बैठे रहते,—तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे और प्रत्यक्ष सत्यों की भीषण शृंखला में बँधकर मूक और मूर्छित हो रहते। इनके पीछे और कुछ भी न देख पाते। किन्तु ये सारे खण्डवस्तु–समूह केवल चल ही रहे हैं, क़तार बाँध कर खड़े नहीं हो गए, इसीलिये हम अखण्ड सत्य का, अक्षय पुरुष का, सन्धान पाते हैं.........

इस लम्बे उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इसमें रूप के बन्धनात्मक-स्वरूप से उतरकर बाधात्मक-रूप में प्रकट होने की सुन्दर व्याख्या की गई है। रूप बन्धन है, पर यह बन्धन रूपातीत को समझने में सहायक है, रूप चल है पर वह सनातन की ओर इशारा करता है, रूप सीमा है पर उसमें असीम की भाव—व्यञ्जना है। यही रूप जब आध्यात्मिक-साधना का विषय हो जाता है तो बन्धन से भी नीचे उतरकर बाधा का रूप धारण करता है। फिर वह उस राजोद्यान के सिंहद्वार के समान गन्तव्य की ओर इशारा न कर अपने आपको ही एक विषय बाधा के रूप में उपस्थित करता है। एक सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ ने कहा है कि आर्ट जब देवी-देवताओं की उपासना में नियोजित होता है तो उसमें एकघृष्टता आ जाती है उसमें प्रतिभा का स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि प्रतिभा नित्य नूतन रूप चाहती है, देवी-देवताओं की मूर्तियों की एक ही कल्पना सदा के लिये स्थिर हो जाती है। रवीन्द्रनाथ स्वयं कहते हैं—'कल्पना जब रुककर एक ही रूप में, एकान्तभाव से, देह धारण करती है, तब वह अपने उसी रूप को दिखाती है, रूप के अनन्त सत्य को नहीं। इसीलिये विश्व-जगत् के विचित्र और चिर-प्रवाहित रूप के चिर परिवर्तनशील अन्तहीनप्रकाश में ही हम अनन्त के आनन्द को मूर्तिमान देखते हैं।'

२४. वैष्णव कवि की रूपोपासना

वैष्णव कवि भी रूप के इस पहलू को समझता है। अन्तर यह है कि उसका रूप चरम रूप है जिसकी उपासना में वह अरूप की प्रवाह नहीं करता। यह रूप कल्पना-प्रसूत नहीं है बल्कि कल्पना से परे है! रवीन्द्रनाथ का तत्त्ववाद और उपलब्धि एक ही वस्तु है, इसीलिये उनके निकट कल्पना और भक्ति में कहीं विरोध नहीं हो सकता है। वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज़ समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है—अर्थात् जब रूप 'मोहन' हो उठता है, जहाँ सारी चित्तवृत्ति मुग्ध हो जाती है—वहीं उसकी भक्ति शुरू होती है। कवि वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के उस ऊँचे स्तर तक पहुँच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हत चेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त-वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना—आत्म निवेदन—में अपना सर्वस्व आहुत कर देता है।

वैष्णव कवि के इस भाव को न समझकर वर्तमान युग के आलोचक उसे 'टाइप' या 'फ़ार्मल' हो जाना कहने लगते हैं। हमें 'टाइप' या 'फ़ार्मल' शब्द से कोई एतराज़ नहीं। मगर यूरोप के पण्डित कभी-कभी कहा करते हैं कि 'टाइप' में आकर आर्ट अवनत हो जाता है, अर्थात् वे इन शब्दों को कुछ अनादर के साथ व्यवहार करते हैं। इस सम्बन्ध में एक कला समीक्षक का कहना है—'फ़ार्मल' कहकर शिल्प की अवज्ञा करना इस युग में हमें संयत करना होगा। जिस प्रकार काव्य में, उसी प्रकार चित्र और शिल्प कला में आर्ट (कला) को 'फ़ार्मल' होना ही पड़ता है—किन्तु इसीलिये एका-एक भाव के लिये एक सम्पूर्ण 'फ़ार्म' पा सकना जाति और कला के इतिहास में मामूली बात नहीं है।'

बात असल में यह है कि जाति ने जिस रूप को निरन्तर मनन के द्वारा एक श्रेष्ठ रूप दिया, वह सौदर्न्य की सृष्टि को विशिष्ट होने से बचाता है। एक

जगह हमने चीन की कला के सम्बन्ध में एक यूरोपियन समालोचक का एक उद्धरण पढ़ा था जिसका भाव यह है कि कला के रस को लगातार जारी रखने में चीनवालों ने संसार की अन्य किसी जाति से अधिक सफलता पाई है, क्योंकि चीन की कला एक विशेष आकार में चार हज़ार वर्षों से बराबर चली आ रही है। कला के विषय मे चीनवालों के बारे में जो बात कही गई है वही बात काव्य के विषय में वैष्णव-कवियों के बारे में कही जा सकती है। पर जिसलिये एक विशेष आकार-भंगी ग्रहण करने के कारण चीन की कला में रस का अभाव बताना धृष्टता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की रूपोपासना को भी वैचित्र्य-विहीन कहना अनुचित है।

यह तो हुई टाइप और फ़ार्म की बात। पर कुछ समालोचक इसके विपरीत विचार रखकर भी वैष्णव कवि की रूपोपासना को हेय समझते हैं। वे फ़ार्म और टाइप को स्वीकार कर लेते हैं पर इस 'फ़ार्म' के साथ चित्तवृत्ति की मुक्ति को स्वीकार नहीं करते अर्थात् वे कृष्ण या राधा के विशेष रूप के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं करते। वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि रूपातीत को एक कल्पनातीत रूप में बँधना पड़ा है, पर साथ ही यह भी निश्चित कर देना चाहते हैं कि इस स्वीकृत 'फ़ार्म' को अमुक-अमुक चित्तवृत्तियों के साथ बाँध देना चाहिए। देवी को अगर एक रूप दिया गया है तो उस रूप की परितृप्ति के साधन भी निश्चित होने चाहिए। इसी श्रेणी में वे पण्डित भी आते हैं जो राधा और कृष्ण के संयोग-शृंगार को त्याज्य समझते हैं। असल में रूप के साथ जब-वृत्तियों को बाँध देते हैं तभी वह बन्धन से उतरकर बाधा के रूप में खड़ा हो जाता है। 'तारा' या 'त्रिपुर सुन्दरी' का रूप भी निश्चित है और साधनापद्धति भी। पर वैष्णव कवि का रूप तो निश्चित है किन्तु साधनापद्धति अनिश्चित ! कृष्ण की उपासना, पिता, स्वामी, पुत्र, सखा, माता प्रेमी आदि नाना रूपों में हो सकती है। वह बन्धन है पर बाधा नहीं।

तुलसीदास कहते हैं :—

मोहि तोहि नाते अनेक मानिये जो भावै,
ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै।

यही वैष्णव कवियों की रूप-उपासना है। रूप के अतीत अरूपसत्ता को वह भूल जाता है पर इस बन्धन की स्वीकृति को सार्थक करता है चित्तवृत्ति की मुक्ति में। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी अपने तटों की सार्थकता अपने स्रोत की मुक्ति में पाती है। इसीलिये वैष्णव कवि की ठोस रूपोपासना 'पेगन' की रूपोपासना से अलग है।

उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों का विश्वास था कि मानव सभ्यता के प्रथम युग में मनुष्य ने भय और कौतूहलवश नाना अदृष्ट शक्तियों के नाना रूपों की कल्पना की थी; परन्तु वर्तमान शताब्दी के नृतत्वशास्त्र के नये आविष्कारों ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। आज संसार की जिन जातियों को आदिम श्रेणी का समझा जाता है, उनमें बिना किसी अपवाद के इस बात का अभाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों पुरानी जातियों के पुराने इतिहास का प्रकाशन होता जा रहा है, त्यों-त्यों यह बात प्रकट होने लगी है कि भयमूलक रूपों की कल्पना मध्यवर्ती स्थिति की उपज है, आदिम की नहीं। प्रागैतिहासिक युग के चित्रित दीवालों गुफाओं और शास्त्र आदि के अध्ययन से नृतत्त्व-वेत्ताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि आदि मानव की रूप-सृष्टि के दो कारण थे। प्रथम यह कि आदिमानव का विश्वास था कि जिस चीज़ का चित्र बनाया जाता है, वह वस्तुतः बढ़ा करती है; अगर एक हरिण का चित्र बनाया गया, तो वन में अनेक हरिणों की वृद्धि होगी। एक बादल का अंकित करना आकाश में बादलों की वृद्धि का उपाय समझा जाता था। दूसरा कारण यह था कि आदिमानव चित्रों को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि समझता था, अतएव उसके पास किसी चीज़ के चित्र रहने का मतलब यह था कि सचमुच उस वस्तु पर उसका अधिकार होगा। जब जे. जी. फ़ेज़र ने पहले पहल इस निष्कर्ष का प्रकाशन किया, तो सारे यूरोप में इसका बड़ा जबर्दस्त विरोध किया गया। कहा गया कि ये स्वप्नप्रसूत विचार हैं, कपोल-कल्पना है—असत्य है; पर सन् १९०३ ई० में जब एस० रेनेक ने लगभग १२०० प्रागैतिहासिक चित्रणों को प्रकाशित किया, तो विरोध ठण्डा पड़ गया। देखा गया कि इन चित्रों में सबके सब दूध देने वाले पशुओं,

हरिणों, घोड़ों और बकरियों के थे। इस श्रेणी की रूपसृष्टि को तान्त्रिक सृष्टि 'मैजिकल क्रिएशन' कहते हैं।

यह देखा गया है कि मनुष्य जब हाथ से चित्र खींचने लगता है, उसके बहुत पहले से ही वह मन में उसकी कल्पना किए रहता है। इसलिये तान्त्रिक सृष्टि ही मनुष्य की आदि मानस सृष्टि रही होगी। हिन्दुओं के वेद यद्यपि आदि मानव-सभ्यता के प्रतिनिधि नहीं हैं; परन्तु वैदिक मन्त्रों में तान्त्रिक सृष्टि के मानस-रूप का आभास हम पाते हैं। जो हो, मनुष्य ने सभ्यता के शिखर पर चढ़ने के लिये जो दूसरी सीढ़ी बनाई वह तान्त्रिक सृष्टि के सर्वथा विपरीत थी! अब उसे धीरे-धीरे अनुभव होने लगा था कि हिरन का चित्र बनाने से ही हिरन नहीं बढ़ते, गाय के अंकित होते ही उसके घर दूध की नदी नहीं बहने लगती—कोई शक्ति है जो इस तान्त्रिक नियम में बाधा पहुँचा रही है। यह शक्ति भयानक है। वह गायों का संहार कर सकती है, वह वन को निःसत्त्व बना देती है, वह घर के बच्चों पर भी हमला करती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता की दौड़ में आगे बढ़ने लगा, त्यों-त्यों वह इस शक्ति की विकरालता अनुभव करने लगा। केवल विकरालता ही नहीं, उसने देखा कि यह शक्ति अनेकरूपा है—इसकी पूजा होनी चाहिए। यहीं से भयमूलक रूप की सृष्टि आरम्भ हुई।

मनुष्य का मन कुछ और आगे बढ़ा। उसने देखा, विकराल शक्ति की पूजा हो रही है, तो भी भयजनक अवस्था का अन्त नहीं होता। उसने अनुभव किया कि केवल विकराल शक्ति भर ही सब कुछ नहीं हैं, कुछ और है, जो इसकी पूजा के बिना भी संसार की रक्षा कर रहा है और पूजा होने पर संसार का नाश कर सकता है। वह अकेले ही पैदा कर सकता है, अकेले ही रक्षा कर सकता है, अकेले ही संहार भी कर सकता है। हवा उसीके इशारे पर नाच रही है समुद्र उसीके इशारे पर मौन-गम्भीर मुद्रा से आकाश की ओर ताक रहा है, सूर्य उसीके इंगित पर जल रहा है। वह महान् है, वह ब्रह्म है, वह व्यापक है।

---

३५. ब्रह्म का रूप

और उसका रूप ? संसार में ऐसा क्या है, जो उसका रूप न हो ? क्या है, जो ठीक-ठीक उसका रूप बता सके ? वह यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं,—नेति, नेति, नेति ! मगर मनुष्य के भीतर का कवि, उसके भीतर का कलाकार, उसमें का मनीषी इसकी सृष्टि करेगा ही। सीधे रास्ते न हो सकेगा, तो टेढ़े से चलकर, भौतिक रूप से काम न चलेगा, तो अभिनव कल्पना के बल पर। वह अनन्त है; पर मनुष्य उसकी अनन्तता को अभिव्यक्त कैसे करेगा। उसके पास क्या है, जो अनन्तत्व को रूप दे सके ? है क्यों नहीं। वह जो शंख में एक आवर्त है, घुमाते जाओ; पर समाप्त होने का नाम नहीं लेता—न स्थान में और न काल में—उस आवर्त मात्र को अनन्तत्व का प्रतीक क्यों नहीं माना जा सकता ? इस आवर्त को आधार करके स्वस्तिक और प्रणव की रचना हुई। ब्रह्म शान्त है; पर शान्ति को रूप कैसे दिया जाय ? मनुष्य ने उसकी भी कल्पना की। सारांश, उसने अरूप को रूप देने के नाना उपाय आविष्कार किए और यहीं से प्रतीकमूलक सृष्टि का सूत्रपात हुआ।

मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा; परन्तु इस व्यापकता और सर्व-शक्तिमत्ता की कल्पना के कारण उसका मन सदा अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा। धीरे-धीरे उसने ब्रह्म को 'ईश्वर' नाम दिया। ईश्वर अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्यमय इस ऐश्वर्यबोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा समझा, अपना उद्धारकर्त्ता समझा। इस मनो-वृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं; परन्तु साथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं। इस मनोवृत्ति को दार्शनिक कहते हैं। ये दोनों बातें मनुष्य की सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं। समय-समय पर इन दोनों वृत्तियों में कभी यह, कभी वह प्रबल होती रहीं। इसके फलस्वरूप संसार में नाना प्रकार के धर्म-मत और दार्शनिक

मतवाद पैदा होते रहे। इन दोनों मनोवृत्तियों के फल-स्वरूप मनुष्य-जाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्ति, मन्दिर आदि निर्माण किए, अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे; ललित कला की अभूतपूर्व समृद्धि सम्पादन की; पर सर्वत्र वह कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक मनोवृत्ति का परिचय देता रहा।

अचानक मध्यकाल की भारतीय साधना में हम एक प्रकार के कवियों और चित्रकारों को एक अभिनय सृष्टि में तल्लीन देखते हैं। वे मानते हैं कि उस शक्ति में ऐश्वर्य है—इसलिये निश्चय ही वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है—काल में भी और स्थान में भी; अर्थात् वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है, पर ये दोनों उसके एकाङ्गी परिचय हैं। ऐश्वर्य भी उसका एक अंग है, ब्रह्मत्व भी उसका एक अंश है, इन दोनों को अतिक्रान्त करके स्थित है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम में! जहाँ वह साधारण-से साधारण आदमी का समानधर्म है। वही, इस प्रेम की प्यास में अपना सब कुछ भूल जाता है, वही अहीर की छोहरियों के सामने नाचता है, गाता है, कल्लोल करता है—

> जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
> ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भरि छाँछ पै नाच नचावैं।

जो उसे ज्ञानमय समझते हैं, ब्रह्म समझते हैं, वे उसके एक अंश को जानते हैं; पर जो उसे प्रेममय समझते हैं, वे उसके सम्पूर्ण अंश को जानते हैं।* ये कवि और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते हैं कि मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—'प्रेमा पुमर्थो महान्।'

---

* श्री मद्भागवत (१—२—११) में एक श्लोक आया है—

> विदन्ति तत्त्वतत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
> ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

इस श्लोक के आधार पर वैष्णव आचार्यों ने परम-पुरुष के तीन रूपों का वर्णन किया है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म भगवान् के उस

इस मध्यकाल की भावना के समानान्तर चलने वाली एक दूसरी प्रचंड प्रेम-धारा यूरोप में इसी काल में आविर्भूत हुई थी। वह थी ईसाई-साधना। प्राचीन यहूदियों के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार यह संसार खुदा के हाथ से खिसक-कर गिरा हुआ वस्तु है। इसीलिये यह पापमय है। इसमें पैदा होने वाले मनुष्य स्वभावतः ही पापमय हैं। इनके और ईश्वर के बीच एक बड़ा भारी व्यवधान पड़ गया है। इसी व्यवधान के कारण मनुष्य—पापात्मा—भगवान् के पवित्र संसर्ग से वञ्चित होकर शैतान का शिकार बन गया है। मनुष्य की इस दुरवस्था से करुणा विगलित होकर प्रभु ईसा मसीह ने अवतार धारण करके इस व्यवधान को भर दिया। जिसके सिर पर उस करुणामूर्ति ने हाथ रख दिया, वही तर गया। पतितों पर इसकी विशेष दृष्टि है, दीनों की पुकार पर वह दौड़ पड़ता है, आर्तों को वह शरण देता है— अद्भुत प्रेममय है वह पतित-पावन, वह दीन-दयालु, वह अशरण-शरण !

रूप का नाम है, जो विशुद्ध ज्ञानमय है, ज्ञान मार्ग के उपासक इस रूप की उपासना करते हैं। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। जिस प्रकार चर्मचक्षु से सूर्य-मण्डल के नाना विजातीय पदार्थ, जिनमें सैकड़ों मील विस्तृत अन्धकारमय दरारें भी हैं, एक ही ज्योति के रूप में दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भगवान् का नाना शक्तिमय और गुणमय रूप ज्ञानमय ही दिखाई देता है (ब्रह्म संहिता ५. ४६)। परमात्मा योगियों का उपास्य है। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय में भेद रहता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत दूरी पर रहकर नाना पदार्थों के नाना रूपों में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्ति के द्वारा नाना पदार्थों में 'परमात्म—रूप' से प्रत्यक्ष होते हैं (श्रीमद्भागवत १. ६. ४२)। प्रेमियों के निकट भगवान् का पूर्ण रूप प्रकट होता है। इस रूप को "भगवान्" कहते हैं। वैष्णव आचार्यों ने बताया है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। (दे०—जीव गोस्वामी का भागवतसन्दर्भ और भागवत के ऊपर उद्धृत श्लोक पर महाप्रभु वल्लभाचार्य, श्री जीवगोस्वामिपाद और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाएँ।)

मध्यकाल की भारतीय साधना में भी श्रीकृष्ण या श्रीरामचन्द्र ठीक इसी प्रकार दिखाई देते हैं। कहीं हम उन्हें मांसाशी गीध 'जटाऊ की धूरि जटान सों' झारते देखते हैं, कहीं अस्पृश्य शबरी के जूठे बेरों को प्रेम—सहित चखते देखते हैं, कहीं दीन सुदामा के पैरों को 'आँसुन के जल सों' धोते देखते हैं—ठीक उसी प्रकार का पतितपावन का रूप, दीन–दयालु रूप, अशरण-शरण रूप! मगर वैष्णव कवि यहीं आकर नहीं रुकता। ईसाई साधक की विगलद्वाष्पा भावुकता ही उसकी नैया पार कर देती है, उसे आगे जाने की ज़रूरत नहीं; पर वैष्णव कवि नैया पार करने की चिन्ता में उतना समय नष्ट करना नहीं जानता। उसे अर्थ नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए—चाहिए भक्ति, चाहिए प्रेम—

अरथ न धरम न, काम नहिं, गति न चहौं निरवान,
जनम जनम रघुपति भगति, यह बरदान निदान।

संसार के उपासना के इतिहास में रूपों की उपासना की कमी नहीं है। परन्तु, कहाँ है वह साहस, वह प्रेम पर बलिदान कर सकने की अद्भुत क्षमता, जो मध्यकाल के इन साधक कवियों ने ठोस रूप के प्रति प्रकट की है!—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं,
आठहु सिद्धि नवौं निधि कौ सुख नन्द की धेनु चराइ बिसारौं।

यह उपास्य रूप की चरम—सृष्टि है, इसके आगे रूप की रचना असम्भव है। यहाँ आकर भगवान् मनुष्य के अपने हो जाते हैं, वह बड़े भी नहीं, छोटे भी नहीं, हमारे हैं हमारे माता–पिता हैं, भाई–बहन हैं, सखा–सखी हैं, प्रेमी–प्रेमिका हैं, पुत्र–पुत्री हैं–हम जो चाहें वही हैं। वेदों और पुराणों ने जिसका कोई उपयुक्त पता नहीं बताया, इंजील और कुरान जिसकी व्याख्या करते थक गए, दर्शन और धर्म-ग्रंथ जिसका कोई सन्धान न पा सके, वही कितना सहज है, कितना निकट! वह हमारा प्रेमी है!—

'ब्रह्म जो भाख्यौ पुराननि में
सोइ देख्यौ पलोटत राधिका पायन।'

२६. सूफ़ी साधकों की मधुर-साधना

हमारे आलोच्य काल में रूपोपासना की एक बहुत ही सुन्दर परिणति हुई। यह कान्तारति या मधुर भाव की उपासना कही जाती है। इस श्रेणी के भक्तों के अनुसार भगवान् के साथ जितने भी सम्बन्ध हो सकते हैं उनमें मधुर-भाव या कान्तारति का सम्बन्ध सर्वाधिक मनोरम है। तीन प्रकार के भक्तों में इस साधना ने तीन रूपों में अपने को प्रकट किया है। निर्गुणमार्गी भक्तों में, सूफ़ी साधकों में और सगुणमार्गी भक्तों में, इनमें निर्गुण मार्गी भक्तों ने जब तब प्रेमावेश में आकर भगवान् के प्रति मधुरभाव के पद कहे हैं। उनकी साधना का प्रधान और प्रथम वक्तव्य यही नहीं है। कबीर दादू आदि भक्तों ने और बातों के बीच इस मधुर प्रेम सम्बन्ध की भी चर्चा की है। कबीर के दोहों में इस कान्तारति का बहुत ही सुन्दर परिपाक हुआ है, विशेष करके विरहावस्था की उक्तियों में—

> यह तन जालौं मसि करौं, ज्यों धूआँ जाइ सरग्गि।
> मति वै राम दया करैं, बरीस बुझावै अग्गि॥
> अंखड़ियाँ झाय पड़्या, पंथ निहारि निहारि।
> जीहड़ियाँ छाल्या पड़्या, नांव पुकारि पुकारि॥
> नैनां भीतरि आव तूं, ज्यों ही नैन झँपेउँ।
> नां हम देखौं और कूँ, नां तुझ देखन देउँ॥

इसी प्रकार उनके पदों में भी प्रिय से मिलने की अपार व्याकुलता का पता चलता है। इन पदों में सर्वत्र उद्योग भक्त की ओर से ही होता है। भक्त रूपी प्रिया ही भगवान् रूपी प्रिय के पास जाती है उसके पैर काँपते रहते हैं, शरीर में पसीना छूटता रहता है, उस देश की रीति की जानकारी का अभाव मन को उन्मथित करता रहता है, पिया की ऊँची अटरिया की कल्पना से साहस टूटता रहता है। इसीलिये कुछ विद्वानों ने इन वाणियों में सूफ़ी प्रभाव बताया

है। कहीं-कहीं तो यह प्रभाव बहुत स्पष्ट है, पर कहीं-कहीं खींचतान के द्वारा इसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

इस देश में मुस्लिम शासन के सूत्रपात होने के पहले से ही सूफ़ी साधक आने लगे थे। मुसलमान लोग एकेश्वरवादी हैं इसीलिये बहुत लोग मुस्लिम सूफ़ी साधकों को भी एकेश्वरवादी समझ लेते हैं। बहुत लोग हिन्दुओं के पुराने ग्रन्थों में आए हुए अद्वैतवाद से एकेश्वरवाद को अभिन्न मानते हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में कई सुधारक आन्दोलन हुए हैं जिनमें उपनिषदों के अद्वैतवाद को मुसलमानों के एकेश्वरवाद से अभिन्न मान लिया गया है। परन्तु सूफ़ी लोग ठीक एकेश्वरवादी नहीं हैं। उनका विश्वास बहुत-कुछ इस देश के विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों की भाँति है। विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है और इन साधकों का व्यावहारिक धर्म भी भक्ति ही है। निस्सन्देह इन साधकों की मधुर भक्ति भावना ने हमारे देश के सन्तों को भी प्रभावित किया है और इन्होंने भी इस देश से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

इन साधकों की भक्ति-भावना इनकी लिखी प्रेम-गाथाओं में अभिव्यक्त हुई है। इन प्रेम गाथाओं में सर्वश्रेष्ठ है पद्मावत। यह मलिक मुहम्मद जायसी नामक प्रसिद्ध सन्त-भक्त की रचना है। इसमें कवि ने पद्मावती के जिस अपूर्व पारस रूप का वर्णन किया है वह अपना उपमान आप ही है। कवि जब पद्मावती के रूप का वर्णन करने लगता है तब उसका सम्पूर्ण अन्तर तरल होकर ढरक पड़ता है। पारस रूप वह रूप है जिसके स्पर्श से यह सारा संसार सप्रकाश कर रहा है। पद्मावती में वही पारस रूप है। पद्मावती के रूप वर्णन के बहाने भक्त कवि वस्तुतः भगवान् के प्रभाव का वर्णन किया है। पद्मावती ने मानसरोवर में स्नान करते समय ज़रा-सा हँस दिया और फिर

नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हँस भा, दसन जोति नग हीर॥

अलाउद्दीन के प्रथम पात्र ने भी ज़रा-सा दर्पण में उस रूप का देखा था, परन्तु 'सोना है दरस परस भा सोना'। धरती सरग भयउ

हुइ सोना।' इस रहस्य मय पारस रूप का आभास देने के लिये जायसी ने अत्यन्त मार्मिक दृश्यों की योजना की है। वे सदा लौकिक दीप्ति और सौंदर्य का उत्थापन करते हैं परंतु विशेषणों और क्रियाओं के प्रयोग कौशल से अलौकिक दीप्ति की ओर मोड़ते रहते हैं। उन्होंने इस प्रकार एक अपूर्व काव्य की सृष्टि की है।

लौकिक जैसी दिखनेवाली कहानी का आश्रय लेकर सूफ़ी कवियों ने आध्यात्मिक मधुर भाव की साधना का संकेत किया है। प्रियतम सबके हृदय में व्याप्त है पर मिल नहीं रहा है 'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई। को रे मिलाव कहौं केहि रोई!' और फिर धरती और सरग—सीमा और असीम—तो सदा ही मिले हुए थे, न जाने किसने इन्हें अलग कर दिया है—'धरती सरग मिले हुते दोऊ। को रे मिनार कै दीन्ह बिछोऊ!' न जाने कब धरती और सरग का विछोह हुआ, न जाने कैसे यह विछोह हुआ। आज भी उस वियोग की व्याकुल वेदना से समूची—प्रकृति विद्ध है। आज भी सूरज लाल होकर डूबता है, आज भी मजीठ और टेसू लाल दिखाई दे रहे हैं; आज भी गेहूँ का हिया फटा जा रहा है, आज भी नदी व्याकुल भाव से दौड़ रही है। यह प्रेम उद्दाम है।

जायसी ने पद्मावत में जिस उद्दाम प्रेम का वर्णन किया है वह आदर्श और ऐकान्तिक प्रेम है। उसमें लोक-मर्यादा का अतिक्रम दोष नहीं गुण समझा जाता है। यह प्रेम सोद्देश्य भी है। लौकिक प्रेम के बहाने कवि सदा अलौकिक सत्ता की ओर इशारा करता रहता है। जहाँ दूसरे कवि पात्रों की अन्तः वृत्तियों के चित्रण द्वारा पात्र के विशिष्ट व्यक्तित्व को चमकाने का प्रयत्न करते वहाँ भी जायसी अलौकिक पारमार्थिक सत्ता की व्यंजना करना अपना प्रधान लक्ष्य समझते हैं। उदाहरण के लिये जहाँ पद्मावती सखियों के साथ हास-परिहास और जल-क्रीड़ा करती है वहाँ भी कवि उनके स्वभावगत वैशिष्ट्य और अन्तः वृत्ति निरूपण की ओर एकदम ध्यान न देकर पारलौकिक सत्ता की ओर इशारा करता है। उनकी जल-क्रीड़ा, हार खोजना आदि प्रत्येक अवसर को परमार्थपक्ष में ले जाने को उत्सुक है। विरह के उत्पन्न मार्मिक प्रसंगों में कवि

प्रायः पारमार्थक सत्य की ओर ही अपने पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है। इस प्रकार विधिवहिर्भूत ऐकान्तिक और सोद्देश्य प्रेम के चित्रण का फल यह हुआ है कि कवि विशिष्ट स्वभाव को प्रकट करने वाली अन्तवृत्तियों के निरूपण में उदासीन हो जाता है।

विरह

जायसी का विरह-वर्णन कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी गांभीर्य से रिक्त नहीं है विरह की मात्रा का आधिक्य सूचित करने के लिये जायसी ने जिस ऊहात्मक या वस्तुव्यंजनात्मक शैली का आश्रय लिया है वहाँ कहने के आधार भूत वस्तु के हेतु कल्पना की ओर ही उनकी अधिक प्रवृत्ति है। विरह ताप के अतिरिक्त उसके अन्य अंगों का विन्यास भी जायसी ने अपनी उसी हृदयहारिणी और व्यापकत्व विधायनी पद्धति से किया है जिसमें बाह्य प्रकृति को मूल आभ्यन्तर जगत् के प्रतिबिंब के रूप में चित्रित किया गया है। प्रेमयोगी रतनसेन के विरह-व्यथित हृदय का भाव हम सूर्य, चंद्र, पेड़, पक्षी आदि सबमें देखते हैं—(रोवँ रोवँ वे रात जो फूटे), नागमती के आँसुओं से सारी सृष्टि ही खिची- सी चित्रित की गई है। आचार्य शुक्ल के मतानुसार नागमती का विरह-वर्णन हिन्दी साहित्य में एक अद्वितीय वस्तु है नागमती की विरहावस्था वह पवित्र पुण्यदान है जिसमें सभी जड़-चेतन अपने सगे-से दिखाई देते हैं। हृदय की इस उदार और व्यापक दशा का चित्र कवियों ने प्रेम-विरह के प्रसंग में ही किया है, अन्य रसों के प्रसंग में नहीं यह जड़-चेतन पशु-पक्षियों के प्रति सहानुभूति केवल एक पक्ष सामांजस्य ही उन्माद नहीं है, दूसरे पक्ष से भी इनमें समवेदना और सहानुभूति प्राप्त है है। पद्मावती से कहने के लिये नागमती ने जो संदेश भेजा है उसमें मान आदि का लेश भी नहीं वह अत्यन्त नम्रशील और विशुद्ध प्रेम है।

सूफ़ीमत

सूफ़ीमत धर्म के क्षेत्र में ऐकान्तिक भगवत्प्रेम का प्रचारक इसकी तुलना बहुत-कुछ रागानुगा भक्ति से की जा सकती है। दोनों में

साम्य है कि किसी-किसी पंडित ने रागानुगा कृष्ण-भक्ति को सूफ़ीमत का प्रभाव तक कह दिया। इस मत के अनुसार मनुष्य के चार विभाग हैं:—नफ़्स अर्थात् विषयभोग वृत्ति। रूह (आत्मा), क़ल्ब (हृदय) और अक़्ल (बुद्धि)। क़ल्ब या हृदय एक भूतातीत पदार्थ है, उसी पर दृश्य वस्तु का प्रतिबिंब पड़ता है। यद्यपि दृश्य स्थूल वस्तु अनित्य हैं पर उसकी भावना नित्य है क़ल्ब पर ही दृश्य वस्तुओं के प्रतिबिंब अंकित होते हैं। सूफ़ी लोग स्वयं स्वीकार करते हैं कि उनको बहुत-कुछ भारतीय ज्ञानियों से प्राप्त हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि ये बातें भारतीय योगशास्त्र से मिलती-जुलती हैं। जगत् चार प्रकार के बताए गए हैं—आलमे नासूत (भौतिक जगत्) आलमे मलकूत (चित् जगत्) आलमे जबरूत (द्वंद्वातीत आनन्द जगत्) और आलमे में लाहूत (सत् या पारमार्थिक ब्रह्म जगत्। नासूत मानवलोक है, मलकूत अदृश्यलोक है, जबरूत (उच्चतम लोक) लाहूत परमलोक है। कुछ सूफ़ी एक और जगत् या लोक की कल्पना करते हैं जिसे आलमे मिशाल या समलोक नाम दिया गया है। इसमें जो पारमार्थिक सत्ता है उस उसके ठीक-ठीक प्रतिबिंब के लिये क़ल्ब का स्वच्छ होना आवश्यक है। इसके लिये ज़िक्र (नामस्मरण) और मुराक़बत (ध्यान) आवश्यक है।

इस मत के अनुसार साधक की चार अवस्थाएँ हैं—शरीअत (यात शास्त्रसमत वैधमार्ग, तरीक़त अर्थात् बाह्य क्रिया-कलाप से मुक्त होकर केवल हृदय की शुद्धता द्वारा भगवद्‌ध्यान और हक़ीक़त मारफ़त अर्थात् विधि-निषेध से परे की सिद्धावस्था।

समाधि की अवस्था का नाम हाल है। इसके दो पक्ष हैं। त्याग पक्ष में साधक क्रमशः अपने को जगत् के अन्य पदार्थों से भिन्न समझने का भाव त्याग देता है और धीरे-धीरे उसका अहंभाव नष्ट हो जाता है और उसे प्रेम का नशा छा जाता है। फिर दूसरा पक्ष अर्थात् प्राप्ति का मार्ग आरंभ होता है, प्रथम अवस्था बक़ा होती है जब वह परमात्मा में स्थित होता है, दूसरी वन्द या उल्लासमयी मत्तावस्था आती है और अन्त में पूर्ण शान्ति को प्राप्त करता है।

सूफ़ी काव्यों में नायक का घरबार छोड़कर निकल पड़ना और वियोग की दशा में अपने को समस्त जगत् से अभिन्न देखना प्रथम पक्ष की साधना है और प्रेम की उद्दामता, प्रिय की प्राप्ति और उसके लिये आत्मविसर्जन अन्तिम अवस्था की।

तीसरे, गोस्वामिपाद ने इसे उन लोगों के लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रस के साथ शृंगार का साम्य देखकर ही विदक गये हों—उन लोगों के लिये नहीं जो शृंगाररस के साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शास्त्रों में और इतिहास में ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गए हैं, जो गलती से ही इस रास्ते आ पड़े थे और फिर जीवन का चरम लाभ पा लेने में समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रका इस रास्ते आ गये थे, सूरदास और बिल्वमङ्गल गलती से ही इधर आ प थे और बाद में वे क्या हो गये—यह जगद्विदित है।

इन पंक्तियों के लेखक के समान ही ऐसे बहुत—से लोग होंगे साहित्य-चर्चा के प्रसङ्ग में दिन रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभा सञ्चारीभाव और सात्त्विक भावों की चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे उन लोगों को यह जान रखना चाहिए कि भक्ति में केवल एक ही स्थायी है—भगवान् विषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तों के स्वभाव के सार यह लगन पाँच प्रकार की हो सकती है— शान्त स्वभाव की, द स्वभाव की, सख्य-स्वभाव की, वात्सल्य-स्वभाव की और मधुर-स्वभाव इन पाँचों स्वभावों के अनुसार रति भी पाँच प्रकार की होती है—श प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँ तक जड़ जगत् का विष इनमें शान्ता रति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाकी क्रमशः नीचे पड़ते अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृंगार नाम ग्रहण करती है। जड़-ि होने से यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज़ ? न ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान् की छाया है जो माया के दर्पण में फलित हुई है—

या जग की परछाँह री माया दरपन बीच।

अब अगर दर्पण की परछाँह की जाँच की जाय तो स्पष्ट ही होगा कि इसमें छाया उल्टी पड़ती है। जो चीज़ ऊपर होती है, पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही ... हुई है। जड़ जगत् में जो सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक

निवेदन

'मध्यकालीन धर्म-साधना' यद्यपि भिन्न-भिन्न अवसर पर लिखे गए निबंधों का संग्रह ही है तथापि प्रयत्न किया गया है कि ये लेख परस्पर-विच्छिन्न और असंबद्ध न रहें और पाठकों को मध्यकालीन धर्म-साधनाओं का संक्षिप्त और धारावाहिक परिचय प्राप्त हो जाय। इसीलिये कई लेखों में परिवर्तन कर दिया गया है और कईको एकदम नये सिरे से लिखा गया है। दो प्रकार के साहित्य से इन धर्म-साधनाओं का परिचय संग्रह किया गया है—(१) विभिन्न संप्रदाय के साधना-विषयक और सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ और (२) साधारण काव्य-साहित्य। इन दो मूलों के उपयोग के कारण इस पुस्तक में आलोचित अधिकांश धर्म-साधनाएँ शास्त्रीय रूप में ही आई हैं। जिन संप्रदायों के कोई धर्म-ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं या जो साधारण काव्य साहित्य में नहीं आ सकी हैं वे छूट गई हैं। लोकधर्म की चर्चा इस पुस्तक में यत्रतत्र आ अवश्य गई है परन्तु वह इस पुस्तक का प्रधान प्रतिपाद्य नहीं है।

मेरा विश्वास है कि जनपदों में प्रचलित लोकधर्म की अनेक पूजा-पद्धतियाँ, देवता-मंडलियाँ और धार्मिक विश्वासों की परंपरा दीर्घ-काल से चलती आ रही हैं। शास्त्रीय धर्म-साधना के साहित्य से इनका घनिष्ट संबंध होना चाहिए। कहीं-कहीं पुस्तक में इस प्रकार के संकेत दिए गए हैं परन्तु यह विषय बहुत महत्त्वपूर्ण है और इसके लिये अधिक गंभीरतापूर्वक विचार करके स्वतंत्र पुस्तक लिखने की आवश्यकता है।

हमारे देश की धर्म-साधना का इतिहास बहुत विपुल है। विभिन्न युग की सामाजिक स्थितियों से भी इसका संबंध भी है। भिन्न-भिन्न समयों में बाहर से आने वाली मानव-मंडलियों के संपर्क से इसमें नये-नये उपादान भी मिलते रहे हैं। धर्म-साधना की चर्चा करते समय इन सब

तीसरे, गोस्वामिपाद ने इसे उन लोगों के लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रस के साथ शृंगार का साम्य देखकर ही विदक गये हों—उन लोगों के लिये नहीं जो शृंगाररस के साथ इसका साम्य देखकर ही इधर आकृष्ट हुए हों। शास्त्रों में और इतिहास में ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गए हैं, जो ग़लती से ही इस रास्ते आ पड़े थे और फिर जीवन का चरम लाभ पा लेने में समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गये थे, सूरदास और बिल्वमङ्गल ग़लती से ही इधर आ पड़े थे और बाद में वे क्या हो गये—यह जगद्विदित है।

इन पंक्तियों के लेखक के समान ही ऐसे बहुत—से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चा के प्रसङ्ग में दिन रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव-सञ्चारीभाव और सात्त्विक भावों की चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगों को यह जान रखना चाहिए कि भक्ति में केवल एक ही स्थायी भाव है—भगवान् विषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तों के स्वभाव के अनुसार यह लगन पाँच प्रकार की हो सकती है— शान्त स्वभाव की, दास्य-स्वभाव की, सख्य-स्वभाव की, वात्सल्य-स्वभाव की और मधुर-स्वभाव की। इन पाँचों स्वभावों के अनुसार रति भी पाँच प्रकार की होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँ तक जड़ जगत् का विषय है, इनमें शान्ता रति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाकी क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृंगार नाम ग्रहण करती है। जड़-विषयक होने से यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज़? नन्ददास ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान् की छाया है जो माया के दर्पण में प्रतिफलित हुई है—

या जग की परछाँह री माया दरपन बीच।

अब अगर दर्पण की परछाँह की जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उल्टी पड़ती है। जो चीज़ ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। जड़ जगत् में जो सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक होने पर

विषय-सूची

इन व्रज-सुन्दरियों में भी राधारानी सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके लोचन मदमत्त चकोरी के लोचनों की चारुता को हरण करनेवाले हैं, जिनके परमाह्लादन वदनमण्डल ने पूर्णिमा के चन्द्र की कमनीय कीर्ति का भी दमन किया है, अविकल कलधौत-स्वर्ण-के समान जिनकी अंग-श्री सुशोभित है, जो मधुरिमा की साक्षात् मधुपात्री हैं—

> मदचकुटचकोरीचारुताचोरदृष्टि-
> र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः ।
> अविकलकलधौतोद्धूतिधौरेयकश्री-
> र्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा ॥

जड़ादिविषयक शृंगारादि रस के साथ इस अनिर्वचनीय मधुररस एक और मौलिक अन्तर है। अलंकार-शास्त्रों में विवृत शृंगारादि रस के जड़ोन्मुख ही नहीं होते, उनके भाव की स्थिति भी जड़ में ही होती है। इ[illegible] कार शास्त्र में बताया गया है कि शृंगारादि रसों के रत्यादि स्थायी भाव सं[illegible] रूप से मन में स्थित रहते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्वजन्मोपार्जित होती है और इस जन्म की अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो [illegible] है, उसके साथ पूर्वजन्म के संस्कार तो आ ही नहीं सकते; फिर स्थायी भ[illegible] संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया [illegible] आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग-शरीर भी एक शरीर से दूसरे में [illegible] होता है। इस सूक्ष्म शरीर में ही पाप-पुण्य आदि के संस्कार रह[illegible] बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन [illegible] पृथ्वी, जल, वायु आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, [illegible] अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, [illegible] भोगता है—

> स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमय[illegible]र्मयः
> [illegible] आपोमयो वायुमय आकाशमय[illegible]ममयो
> [illegible]क्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः स[illegible]॥5॥

इसी लिङ्ग-शरीर में हो सकते हैं। वह चूँकि जड़ है, इसलिये उसकी प्रवृत्ति जड़ोन्मुख होती है। अलंकारशास्त्रों में यह बार-बार-समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य। क्योंकि कार्य होता तो विभवादि के नष्ट होने पर नष्ट नहीं हो जाता, कारण के नष्ट होने से कार्य का नष्ट होना नहीं देखा जाता—स च न कार्यः, विभावादि विनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् (काव्य-प्रकाश ४र्थ उल्लास) परन्तु मधुररस आत्मा का धर्म है, यह स्थूल जड़ जगत् की वस्तु नहीं है। उसके विभावादि, का कभी विलय नहीं होता, इसलिये उसके लिये सम्भवासम्भव प्रसङ्ग उठता ही नहीं।

रस कई प्रकार के हैं। सबसे स्थूल है अन्नमय कोष का आस्वाद्य रस। रसनादि इन्द्रियों से उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तन से आस्वाद्य है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धि द्वारा आस्वाद्य है; पर यह भी जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रस के निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है, जिसका नाना स्वभावों के भक्त नाना भाव से आस्वादन करते हैं। मधुररस उसीका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इसकी ठीक-ठीक धारणा इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धि से भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तन का विषय है, न बोध का। वह अलौकिक है। इसीलिये भक्तिशास्त्र ने इसके अधिकारी होने के लिये बहुत ही कठोर साधना का उपदेश किया है। रूप गोस्वामी ने इसीलिये इसे दुरूह कहा है। श्रीचैतन्य महाप्रभु कहते हैं—तृण से भी सुनीच होकर, वृक्ष की अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्यागकर, दूसरे को सम्मान देकर ही हरि की सेवा की जा सकती है—

> तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
> अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सम्पूर्ण निग्रह और वशीकरण जबतक न हो जाय, तब तक इस सुकुमार भक्तिक्षेत्र में आने का अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोक के विविध भोगों की और मोक्ष सुख की कामना जब तक सर्वथा

१. मध्ययुग या मध्यकाल

'मध्ययुग' या 'मध्यकाल' शब्द भारतीय भाषाओं में नया ही है। इस देश के प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के किसी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता। बहुत प्राचीनकाल से भारतवर्ष में कृत, त्रेता, द्वापर और कलि नाम के चार युगों की चर्चा मिलती है। ब्राह्मण और उपनिषद् ग्रंथों में भी इन शब्दों का प्रयोग मिल जाता है। धार्मिक मनोवृत्ति की प्रबलता या क्षीणता ही इस प्रकार के युग विभाजन के विश्वास का आधार है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि कृत या सत्ययुग में धर्म की पूर्णस्थिति थी। त्रेता में तीन चौथाई रह गई और द्वापर में आधी। कलिकाल में धर्म का प्रभाव और भी क्षीण हुआ और वह एक ही चरण पर खड़ा रह गया। अनेक विद्वानों ने महाभारत और पुराणों के अध्ययन से यह निर्णय करने का प्रयत्न किया है कि कलिकाल का आरंभ किस समय से हुआ था। हिंदू परम्परा के अनुसार कलिकाल राजा परीक्षित के राज्यकाल में आरंभ हुआ था। यद्यपि हिंदू परम्परा इस काल को पांच हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व से आरंभ होना बताती आ रही है तथापि नई दृष्टि के पण्डितों ने आर्य राजाओं की वंशावली के आधार पर सन् ईस्वी के एक सहस्राब्दक पूर्व से इस काल का आरंभ माना है। साधारणतः इस काल के बाद राजाओं का उल्लेख पुराणों में भविष्यकालिक क्रिया के प्रयोग द्वारा किया गया है। यह माना जाता है कि कलियुग में मनुष्यों की प्रवृत्ति पाप कर्मों की ओर हो जाती है और उनका आयुबल क्षीण हो जाता है और ज्यों-ज्यों कलियुग आगे बढ़ता जाता है त्यों-त्यों मनुष्यों की पापाभिमुख प्रवृत्ति भी बढ़ती जाती है। यद्यपि कलिकाल के दोष अनेक हैं फिर भी उसमें एक बड़ा भारी गुण भी है। अन्यान्य युगों में मानस पाप का भी फल मिलता है किन्तु कलि-

परिशिष्ट

सर आथेन्स्टेल वेन्स ने बड़ी योग्यतापूर्वक पूर्व के अध्ययनों और सेन्सस रिपोर्टों के आधार पर जातिभेद की समस्या की जाँच की थी। उन्होंने सेन्सस के तीन हजार से ऊपर जाने वाली जातियों को लगभग ५०० मोटे विभागों में बाँटा है। वेन्स के इस विभाजन में एक विशेषता यह है कि उसे साधारण पाठक बिना किसी वैज्ञानिक विवाद में पड़े आसानी से समझ सकता है। वेन्स ने चेहरों के भाव आदि की वैज्ञानिक विवेचना भी की है। यहाँ पाठकों की सुविधा के लिये वेन्स द्वारा विभाजित जाति सूची दी जा रही है। भारत-विभाजन के बाद इस देश की जातियों में बड़ा भारी विक्षोभ हुआ है और बहुत-सी जातियों को सामूहिक रूप में स्थानान्तरित होना पड़ा है।

सर आथेल्सटेन ने समूची भारतीय जनता को सात बड़े-बड़े विभागों में बाँटा है। ये सात भाग इस प्रकार हैं :—

१—विशेष श्रेणी [इनके नाम आगे की तालिका में १ से ४३ तक दिये गये हैं।]

२—ग्राम-समाज [इनके नाम आगे की तालिका में ४४ से २६३ तक दिये गये हैं।]

३—गौण पेशा वाले [इनके नाम की तालिका २६४ से २६६ तक दी गयी है।]

४—शहरी जातियाँ [इनके नाम की तालिका २६७ से ३४२ तक दी गयी है।]

५—खानाबदोश जातियाँ [इनके नाम ३४३ से ३६७ तक दिये गये हैं।]

६—पहाड़ी जातियाँ [इनके नाम ३६८ से ४६४ तक दिये गये हैं।]

७—मुस्लिम जातियों की उपाधियाँ [इनके नाम सूची में छोड़ दिये गये हैं। इनमें अरब, शेख, सैय्यद, तुर्क, मुग़ल, पठान, बलूच और ब्राहुई हैं।]

ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि इस क्रिया के जितने भी साधन हैं उनके पहुँच की सीमा निश्चित है। जो समस्त सीमाओं से परे है वह केवल अनुमान और तर्क का विषय हो सकता है। यद्यपि इसमें संदेह ही है कि बौद्धिक विवेचना के द्वारा उसका कितना अंश सचमुच ही स्पष्ट होता है। प्रत्येक युग के और प्रत्येक देश के साधक भगवान् के इस निस्सीम और अचिंत्य-गुण-प्रकाश रूप की बात जानता है। कैसे जानता है, यह बताना बड़ा कठिन है क्योंकि जो असीम और अचिंत्य है उसको अनुभव करने के लिए कुछ इसी प्रकार के साधन की आवश्यकता है। मनुष्य-जीवात्मा में कुछ इसी प्रकार के धर्म विद्यमान है। वस्तुतः जब भक्त भगवान् के असीम-अचिंत्य-गुण-प्रकाश रूप की बात करता है तो वह ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव की बात नहीं करता, मन द्वारा चिंतित वस्तु की बात नहीं कहता और बुद्धि द्वारा विवेचित पदार्थ की बात नहीं करता। वह इन सब से भिन्न और सबसे अलग किसी ऐसे तत्त्व की बात कहता है जिसे उसकी अंतरात्मा अनुभव करती है। वह सत्य है क्योंकि उसे भक्त सचमुच ही अनुभव करता है लेकिन वह फिर भी ग्राह्य नहीं है। न तो वह मन-बुद्धि द्वारा ग्रहणीय है और न वाणी द्वारा प्रकाश्य। जब कभी वह भक्त के हृदय में प्रकट होता है तभी भक्त के हृदय की समस्त सीमाओं में बँधकर सगुण निर्विशेष रूप में ही व्यक्त होता है। यही भक्त का भाव-गृहीत रूप है।

इस प्रकार भगवान् के दो रूप हुए। एक तो वह जिसकी हम कल्पना नहीं कर सकते, व्याख्या नहीं कर सकते, विवेचना नहीं कर सकते। दूसरा वह जो भक्त के चित्त में भाव रूप से प्रकट होता है और उसके समस्त मनोविकारों के बंधन में बँधा रहता है। आधुनिक लेखक इस मनोवृत्ति के आधार पर ही इस युग-सीमा का निर्धारण करना चाहते हैं। जब वह कहते हैं कि पांचवीं से सोलहवीं शताब्दी तक के काल को मध्ययुग कहने का कोई विशेष कारण नहीं है तो असल में वे यह बताना चाहते हैं कि इस काल में सर्वत्र यह पतनोन्मुख और जकड़ी हुई प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। फिर भी मध्ययुग का सीधा अर्थ काल ही हो सकता है, और इसीलिए पांचवीं से सोलहवीं तक के समय को मध्ययुग कहना बहुत कुछ रूढ़ हो गया है। भारतीय इतिहास के लेखकों में

परिशिष्ट

सर आर्थेन्स्टेल वेन्स ने बड़ी योग्यतापूर्वक पूर्व के अध्ययनों और सेन्सस रिपोर्टों के आधार पर जातिभेद की समस्या की जाँच की थी। उन्होंने सेन्सस के तीन हजार से ऊपर जाने वाली जातियों को लगभग ५०० मोटे विभागों में बाँटा है। वेन्स के इस विभाजन में एक विशेषता यह है कि उसे साधारण पाठक बिना किसी वैज्ञानिक विवाद में पड़े आसानी से समझ सकता है। वेन्स ने चेहरों के भाव आदि की वैज्ञानिक विवेचना भी की है। यहाँ पाठकों की सुविधा के लिये वेन्स द्वारा विभाजित जाति सूची दी जा रही है। भारत-विभाजन के बाद इस देश की जातियों में बड़ा भारी विक्षोभ हुआ है और बहुत-सी जातियों को सामूहिक रूप में स्थानान्तरित होना पड़ा है।

सर आर्थेल्सटेन ने समूची भारतीय जनता को सात बड़े-बड़े विभागों में बाँटा है। ये सात भाग इस प्रकार है :—

१—विशेष श्रेणी [इनके नाम आगे की तालिका में १ से ४३ तक दिये गये हैं।]

२—ग्राम-समाज [इनके नाम आगे की तालिका में ४४ से २६३ तक दिये गये हैं।]

३—गौण पेशा वाले [इनके नाम की तालिका २६४ से २९६ तक दी गयी है।]

४—शहरी जातियां [इनके नाम की तालिका २९७ से ३४२ तक दी गयी है।]

५—खानाबदोश जातियां [इनके नाम ३४३ से ३९७ तक दिये गये हैं।]

६—पहाड़ी जातियां [इनके नाम ३९८ से ४९४ तक दिये गये हैं।]

७—आगत जातियों की उपाधियाँ [इनके नाम सूची में छोड़ दिये गये हैं। इनमें अरब, शेख, सैयद, तुर्क, मुग़ल, पठान, बलूच और ब्राहुई हैं।]

होता । परन्तु मध्ययुग के भक्तों में भगवान् के नाम का माहात्म्य बहुत अधिक है। मध्ययुग की समस्त धर्म साधना को नाम की साधना कहा जा सकता है। चाहे सगुण मार्ग के भक्त हों चाहे निर्गुण मार्ग के, नाम जप के बारे में किसी को कोई संदेह नहीं। इस अपार भवसागर में एक मात्र नाम ही नौका रूप है। यद्यपि ऐसा कोई स्थान नहीं है जहां भगवान् का वास न हो और मनुष्य का हृदय भी निस्संदेह उसका आवास है। फिर भी जब तक वह नाम और रूप के सांचे में नहीं ढल जाता अर्थात् सगुण और सविशेष रूप में नहीं प्रकट हो जाता तब तक वह ग्राह्य भी नहीं। इसीलिए भक्तों के नाम-स्मरण का स्पष्ट अर्थ है, भगवान् के भावगृहीत रूप का स्मरण। ब्रह्मसंहिता में कहा है कि यद्यपि भगवान् का गुण और प्रकाश अचिंतनीय है और सबके हृदय में रहता हुआ भी वह सब के अगोचर रहता है—कम लोग ही उसके हृदय स्थित रूप को जान पाते हैं—तथापि संत लोग प्रेमांजन से विच्छुरित भक्ति रूप नयनों से सदैव उसका दर्शन करते रहते हैं अर्थात् जो अरूप होने के कारण दृष्टि का अविषय है उसे प्रेम के अंजन से अनुरंजित करके विशिष्ट बनाकर देखा करते हैं :

प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन
सन्तः सदैव हृदयेऽप्यवलोकयन्ति।

यं श्याम सुन्दरमचिन्त्यगुणप्रकाशं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

भगवान का यह प्रेमांजनच्छुरित रूप भक्त की अपनी विशेषता है। यह उसे सिद्धिवादियों से अलग कर देता है, योग के चमत्कारों को ही सब कुछ मानने वालों से पृथक कर देता है। और शुष्क ज्ञान के कथनी-कथने वालों से भी अलग कर देता है। यह नाम और रूप की उपासना मध्यकालीन भक्तों की अपनी विशेषता है। यह बात बौद्ध और जैन साधकों में नहीं थी, नाथ और निरंजन मत के साधकों में भी नहीं थी और अन्य किसी शुष्क ज्ञानवादी सम्प्रदाय में भी नहीं थी। जप की महिमा का बखान इस देश में नया नहीं

परिशिष्ट

सर आथेन्स्टेल बेन्स ने बड़ी योग्यतापूर्वक पूर्व के अध्ययनों और सेन्सस रिपोर्टों के आधार पर जातिभेद की समस्या की जाँच की थी। उन्होंने सेन्सस के तीन हजार से ऊपर जाने वाली जातियों को लगभग ५०० मोटे विभागों में बाँटा है। बेन्स के इस विभाजन में एक विशेषता यह है कि उसे साधारण पाठक बिना किसी वैज्ञानिक विवाद में पड़े आसानी से समझ सकता है। बेन्स ने चेहरों के भाव आदि की वैज्ञानिक विवेचना भी की है। यहाँ पाठकों की सुविधा के लिये बेन्स द्वारा विभाजित जाति सूची दी जा रही है। भारत-विभाजन के बाद इस देश की जातियों में बड़ा भारी विक्षोभ हुआ है और बहुत-सी जातियों को सामूहिक रूप में स्थानान्तरित होना पड़ा है।

सर आथेल्सटेन ने समूची भारतीय जनता को सात बड़े-बड़े विभागों में बाँटा है। ये सात भाग इस प्रकार है :—

१—विशेष श्रेणी [इनके नाम आगे की तालिका में १ से ४३ तक दिये गये हैं।]

२—ग्राम-समाज [इनके नाम आगे की तालिका में ४४ से २६३ तक दिये गये हैं।]

३—गौण पेशा वाले [इनके नाम की तालिका २६४ से २९६ तक दी गयी है।]

४—शहरी जातियाँ [इनके नाम की तालिका २९७ से ३४२ तक दी गयी है।]

५—खानाबदोश जातियाँ [इनके नाम ३४३ से ३९७ तक दिये गये हैं।]

६—पहाड़ी जातियाँ [इनके नाम ३९८ से ४९४ तक दिये गये हैं।]

७—मुस्लिम जातियों की उपाधियाँ [इनके नाम सूची में छोड़ दिये गये हैं। इनमें अरब, शेख, सैय्यद, तुर्क, मुगल, पठान, बलूच और ब्राहुई हैं।]

२. धर्म-साधना का साहित्य

यूरोप के इतिहास के जिस काल को मध्ययुग कहा जाता है उसके प्रारंभिक शताब्दकों को भारतीय इतिहास का 'स्वर्ण युग' कहा जाता है। यद्यपि यह बात सम्पूर्णरूप से तथ्य के अनुकूल नहीं कही जा सकती तथापि इतना तो सत्य है ही कि भारतीय इतिहास में गुप्त नरपतियों का उत्कर्षकाल बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। सन् ईस्वी के पहिली शताब्दी से मथुरा के कुषाण सम्राटों के शासन संबंधी चिह्नों का मिलना एकाएक बंद हो जाता है। इसके बाद के दो-तीन सौ वर्षों का काल अब तक भारतीय इतिहास का अंधयुग ही कहा जाता रहा है। हाल ही में इस काल के अनेक तथ्यों का पता चला है किन्तु धारावाहिक इतिहास लिखने की सामग्री अब भी पर्याप्त नहीं कही जा सकती। धीरे-धीरे विद्वान अन्वेषक कुछ न कुछ नये तथ्यों का संग्रह करते जा रहे हैं। यह 'अंधरकार युग' शब्द भी यूरोपियन पण्डितों के दिमाग की ही उपज है। यदि राजाओं और राजपुरुषों का नाम ही इतिहास न समझा जाय तो इस काल को 'अंधरकार युग' नहीं कहा जा सकता। धर्म और दर्शन आदि के जो ग्रंथ परवर्त्ती डेढ़ हजार वर्षों के इतिहास को प्रभावित करते रहे हैं उनका बीजारोपण इसी काल में कहीं हुआ था। मनुस्मृति का नवीन रूप संभवतः इसी काल की देन है। सूर्य-सिद्धान्त का पुराना रूप इसी काल का बना होगा। अश्वघोष ने संभवतः इसी काल में अपनी नई काव्यशैली का आरंभ किया और परवर्त्ती नाटकों, प्रकरणों, और अन्यान्य रूपकों को प्रभावित करनेवाला भारतीय नाट्यशास्त्र भी इसी काल में लिखा गया था तथा परवर्त्ती काव्यों को दूर तक प्रभावित करनेवाला वात्स्यायन का कामसूत्र इसी काल में संपादित हुआ था। हम आगे चलकर देखेंगे कि दर्शन और धर्म-साधना के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों और सम्प्रदायों की स्थापना इसी काल में हुई।

का नाम	क्रम संख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	२१	मेमान	पश्चिम भारत	११२१०००
	२२	बोहरा	पश्चिम भारत	१७७३००
	२३	लब्बई	दक्षिणपूर्व किनारा	४२६३००
	२४	माप्पिल	मालाबार	६२५२००
	२५	जोनकन	मालाबार	१००३००
लेखक	२६	खत्री	पञ्जाब	१३८०००
	२७	कायस्थ	उत्तर भारत-बङ्गाल	२१४६३००
	२८	प्रभु	पश्चिम	२८८००
	२९	ब्रह्म क्षत्रिय	गुजरात	४२००
	३०	करन महन्त	उड़ीसा	१९५०००
	३१	कणक्कन	तामिल	६३०००
	३२	करणम्	तिलंगाना	४२८००
	३३	विधूर	मध्यप्रदेश, दक्षिण	३९२००
	३४	वैद्य	बङ्गाल	९००००
धार्मिक, साधु	३५	गोसाईं	सर्वत्र (दक्षिण के सिवा)	१५२६००
	३६	बैरागी	सर्वत्र	७६५२००
	३७	अतीत	उत्तर भारत	१५१८००
	३८	साधु	पश्चिम	६७८००
	३९	जोगी	उत्तर भारत	२१२५००
	४०	फकीर	उत्तर भारत	१२१२६००
	४१	आण्डी	तामिल	१०१४००
		[illegible]	तिलंगाना	४८३००
				१३७००

है। जो शास्त्र उन दिनों प्रतिष्ठित हुए वे सैकड़ों वर्ष बाद आज भी भारतीय मनीषा को प्रेरणा दे रहे हैं। इस काल को भारतीय उन्नति के स्तब्ध हो जाने का काल नहीं कहा जा सकता।

लेकिन विक्रम की छठीं शताब्दी के बाद भारतीय धर्मसाधना में एक नई प्रवृत्ति का उदय अवश्य होता है। इस समय से भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में उस नए प्रभाव का प्रमाण मिलने लगता है जिसे संक्षेप में 'तांत्रिक प्रभाव' कह सकते हैं। केवल ब्राह्मण ही नहीं जैन और बौद्ध सम्प्रदायों में भी यह प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। बौद्ध-धर्म का अंतिम रूप तो इस देश में तांत्रिक ही रहा। दसवीं शताब्दी के आसपास आते-आते इस देश की धर्म साधना बिल्कुल नये रूप में प्रकट होती है। निस्संदेह यहाँ से भारतीय मनीषा के उत्तरोत्तर संकोचन का काल आरंभ होता है। यह अवस्था अठारहवीं शताब्दी के अंत तक चलती रही उसके बाद भारतवर्ष फिर नये ढंग से सोचना आरंभ करता है। सच पूछा जाय तो विक्रम की दसवीं शताब्दी के बाद ही भारतीय इतिहास का वह काल आरंभ होता है जिसे संकोचनशील और स्तब्ध मनोवृत्ति का काल कहा जा सकता है। यह सत्य है कि मध्यकाल में कोई भी ऐसी प्रवृत्ति कठिनाई से मिलेगी जिसका बीजारोपण किसी न किसी रूप में पूर्ववर्त्ती काल में न हो गया हो। परन्तु धर्म-साधना का इतिहास जीवन्त वस्तु है और जब हम किसी प्रवृत्ति को नई कहते हैं तो हमरा मतलब सिर्फ इतना ही होता है कि यह प्रवृत्ति कुछ विशेष ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से अत्यन्त प्रबल होकर प्रकट हुई था।

एक विशिष्ट प्रवृत्ति

दसवीं शताब्दी के आस-पास एक विशिष्ट मनोवृत्ति का प्राधान्य भारतीय धर्मसाधना के क्षेत्र में स्थापित होता है, यद्यपि वह नयी नहीं है। कम से कम विक्रम के छठीं शताब्दी से निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के रहने का प्रमाण मिलता है। विरोधी मतों को 'अवैदिक' कहकर हेय सिद्ध करना

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	७२	कुरमी	उत्तर भारत	३८७३६००
	७३	कोइरी	युक्तप्रान्त, विहार	१७८४०००
	७४	लोधा	उत्तर भारत	१६६३४००
	७५	किसान	युक्तप्रान्त, मध्यप्रान्त	४४२७००
	७६	कावर	मध्यप्रान्त	१८६१००
	७७	कोलता	मध्यप्रान्त	१२७४००
	७८	किरार	उत्तर भारत	१६६७००
	७९	कलिता	आसाम	२०३४००
	८०	हलवाई-दास	आसाम	२९२००
	८१	कैवर्त	बङ्गाल	२६६५१००
	८२	सद्गोप	बङ्गाल	५७९४००
	८३	चासा	बङ्गाल, उड़ीसा	८७०५००
	८४	गंगौता	बिहार	८२६००
	८५	पोद	बङ्गाल	४३४९००

उनमें से बहुत कम मुद्रित हैं यही बात धारणियों, स्तोत्रों तथा इसी श्रेणी के अन्य साहित्यों के लिये भी सत्य है।

यहाँ एक बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है। इस देश में आज जितनी जातियाँ बसती हैं वे सभी सदा से आर्यभाषाभाषी नहीं रही हैं। उत्तर भारत में सर्वत्र जनसाधारण की भाषा आर्य-भाषा बन गई है। आर्यों के आने के पहले इस देश में ऐसी अनेक जातियाँ थी जो आर्येतर भाषा बोला करती थीं। आर्यों के साथ इन जातियों का, किसी भूले हुए युग में, बड़ा कठोर संघर्ष हुआ था। असुरों, दैत्यों, नागों, यक्षों राक्षसों आदि के साथ आर्यजाति के सम्य कठोर संघर्ष की कहानियाँ हैं। उन्होंने धीरे धीरे आर्यभाषा और आर्य-विश्वास को स्वीकार कर लिया परन्तु उनके विश्वास और उनकी भाषा ने नीचे से आक्रमण किया और आर्य-भाषा ऊपर से आर्य बने रहने पर भी उनकी भाषाओं और उनके विश्वासों से प्रभावित होती रही। उनके विश्वासों ने हमारी धर्म-साधना और सामाजिक रीति नीति को ही नहीं, हमारी नैतिक परंपरा को भी प्रभावित किया। जैसे जैसे वे आर्य भाषा सीखती गईं वैसे वैसे उन्होंने आर्यों की परंपरागत धर्म-साधना और तत्त्व-चिन्ता को भी प्रभावित किया। धीरे धीरे समूचा उत्तरी भारत आर्य भाषी तो हो गया पर आर्य भाषी बनी हुई जातियों के सम्पूर्ण संस्कार भी उनमें ज्यों के त्यों रह गए। यह ठीक है कि कुछ जातियों ने जल्दी आर्य भाषा सीखी, कुछ ने थोड़ी देर से और कुछ तो जंगलों और पहाड़ों की ऐसी दुर्गम जगहों में जा बसीं कि आज भी वे अपनी भाषा और संस्कृति को पुराने रूप में सुरक्षित रखती आ रही हैं। परिवर्तन उनमें भी हुआ है पर परिवर्तन तो जगत् का धर्म है। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित संवत् के प्रथम सहस्र वर्षों तक यह उथल पुथल चलती रही और आज से लगभग एक सहस्राब्दी से कुछ पूर्व ही उत्तर भारत प्रायः पूर्णरूप से आर्यभाषाभाषी हो गया। संस्कृत के पुराण ग्रंथों से हम इन आर्येतर जातियों की सभ्यता और संस्कृति का एक आभास पा सकते हैं। 'आभास' इसलिए कि वस्तुतः ये पुराण आर्यदृष्टि से—तथापि ब्राह्मण दृष्टि से—लिखे गए हैं और फिर बहुत पुरानी बातें

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	१२४	तरखाण	पंजाब	७५४५००
	१२५	बढ़ई	उत्तर भारत	११३३१००
	१२६	सुतार-छुतोर	बंगाल	५८११००
	१२७	खाटी	उत्तर भारत	२१९४००
	१२८	लोहार	सर्वत्र (दक्षिण भिन्न)	१६०५१००
	१२९	कामार	बंगाल	७५७२००
	१३०	राज-मीमार	उत्तर भारत	२६०००
	१३१	थावी	पंजाब पहाड़ियाँ	२३००
	१३२	गौण्डी	दक्षिणात्य	८७००
	१३३	काडीत्र्यो	पश्चिम	१४४००
	१३४	कसेरा	सर्वत्र (दक्षिणके सिवा)	१३८६००
	१३५	[illegible]	उत्तर भारत	५७८००

४. पूर्व-मध्ययुग की विविध साधनाएँ

षष्ठ-दशम शतक के काल में यज्ञयाग के स्थान पर देव-मंदिरों की प्रधानता लक्षित होती है। पूववर्त्तीकाल के आर्ष ग्रंथों को आकर रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ती पर दिखाई पड़ती है, वेद प्रामाण्य का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है और विरोधी सम्प्रदायों को अवैदिक कहकर उड़ा देने की चेष्टा चरम सीमा तक पहुँच जाती है। दर्शन के क्षेत्र में भाष्यों और टीकाओं के सहारे और धर्म के क्षेत्र में पुराण, उपपुराण और स्तोत्रों के सहारे-आकर ग्रंथों के सिद्धान्त के प्रचार की प्रवृति अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है; वैष्णव, शैव, शाक्त गाणपत्य और सौर से लेकर बौद्ध और जैन सम्प्रदायों तक में मंत्र, यंत्र, मुद्रा आदि का प्रचार बढ़ता दिखाई देता है। प्रायः सभी सम्प्रदायों में उपास्य देवों की शक्तियों की कल्पना की गई है और यह प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती पर दिखाई देती है। यह काल भारतीय मनीषा की जागरूकता, कर्मण्यता और प्रतिभागत उत्कर्ष का काल है। विशेषरूप से लक्ष्य करने की बात यह है कि इस काल में भारतीय धर्म प्रचारकों का दूर दूर देशों से घनिष्ट संबंध बढ़ता ही गया। बौद्धधर्म के प्रचारकों का चीन से जो संबंध इस काल के पूर्व ही स्थापित हो चुका था वह और भी दृढ़ होता गया और इस काल में चीन के दो अत्यन्त उत्साह-परायण, विद्याव्यसनी महापुरुष-हुएन्त्सांग और इत्सिंग-यात्रा रूप में इस देश में आए। ये लोग—विशेषतः हुएन्त्सांग—इस देश से बहुत बड़ी ग्रंथराशि अपने साथ चीन ले गए, जिनमें से अधिकांश का चीनी भाषा में अनुवाद सुरक्षित है यद्यपि वे मूलरूप में खो गए हैं। हुएन्त्सांग के जीवनवृत्त से पता लगता है कि अपने साथ महायान सूत्र के २२४ ग्रंथ, अभिधर्म के १९२ ग्रंथ, स्थविर सम्प्रदाय के सूत्र, विनय और अभिधर्म जातीय १४ ग्रंथ, महासांघिक सम्प्रदाय के इसी श्रेणी के १५ ग्रंथ, महीशासक सम्प्रदाय के तीनों श्रेणियों के २२ ग्रंथ, काश्यपीय,

वादियों के आचार्य चन्द्रगोमिन् भी इसी समय हुए और समंतभद्र और अकलंक जैसे जैन मनीषी भी इसी काल में प्रादुर्भूत हुए। काव्य, नाटक, कथा आख्यायिका, अलंकार आदि के क्षेत्रों में इस काल में जो प्रतिभाशाली व्यक्ति पैदा हुए वे वर्णन प्रसिद्ध हैं।

इस युग के धर्म विश्वास के मनन के लिये सबसे उपयोगी ग्रंथ पुराण, आगम, तंत्र और संहिताएं हैं। परन्तु पुराणों के बारे में यह कहना कठिन है कि कौन सा पुराण या उसका अंश-विशेष कब रचा गया। भारतीय साहित्य में पुराण कोई नई चीज नहीं है। धर्म सूत्रों और महाभारत में पुराणों की चर्चा आती है। 'आपस्तम्बीय धर्म सूत्र' में तो पुराणों के वचन भी उद्धृत हैं। मनोरंजक बात यह है कि प्रायः सभी मुख्य पुराणों में अष्टादश पुराणों की सूची दी हुई है। अर्थात् प्रत्येक पुराण यह स्वीकार करता है कि उसकी रचना के पहले अन्यान्य पुराण बन चुके थे। इतना तो निश्चित है कि हमारे आलोच्यकाल के पूर्वार्ध के समाप्त होते होते प्रायः सभी पुराण लगभग उसी स्वरूप को प्राप्त कर चुके थे जिसमें वे उपलब्ध हैं। उनमें प्रक्षेप-परिवर्धन बाद में भी होता रहा है, परन्तु परवर्तीकाल में साम्प्रदायिक प्रवृत्ति की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि इन प्रक्षिप्त परिवर्धित अंशों को खोज निकालना बहुत कठिन नहीं है। उदाहरणार्थ, 'भागवत पुराण' को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बाद में आई है और पद्मपुराणांतर्गत पाताल खंड का जो 'नरसिंह उप पुराण' है उसमें यह प्रवृत्ति है इसलिए हम उसे परवर्ती समझ सकते हैं। 'पद्मपुराण' के उत्तर खण्ड में और स्कंद पुराण के वैष्णव खण्ड में भी ऐसी ही प्रवृत्ति है, इसलिए इन्हें भी हम परवर्ती कह सकते हैं। 'शिव पुराण' के वायवीय संहिता और 'देवी भागवत' में उत्तरकालिक सम्प्रदायों की बातें होने से उनका काल भी बाद का ही होगा। जो हो, हम इतना मान ले सकते हैं कि मुख्य मुख्य पुराणों की रचना इस काल में बहुत कुछ समाप्त हो चुकी थी। इन अठारह पुराणों के नाना भाँति से विभाग किए गए हैं। बताया गया है कि इनमें छः तामस प्रकृति वालों के लिये छः राजस प्रकृतिवालों के लिये और छः सात्विक प्रकृतिवालों के लिये हैं। वैष्णव

में चारों विषयों पर ध्यान दिया गया है। कुछ में ज्ञान और योग का निरूपण तो नाम मात्र को है; परन्तु क्रिया और चर्या का विस्तारपूर्वक वर्णन सभी में हुआ है। 'पाद्मतंत्र' नामक संहिता में सभी बातें हैं; पर योग के लिये ग्यारह ज्ञान के लिये पैंतालिस, क्रिया के लिये दो सौ पंद्रह और चर्या के लिये तीन सौ छिहत्तर पृष्ठ खर्च किए गए हैं।[1] इसीसे संहिताओं का प्रधान वक्तव्य समझा जा सकता है। वस्तुतः क्रिया और चर्या ही संहिताओं के प्रिय और प्रधान विषय हैं, और यही बात अन्यान्य आगमों के बारे में भी सत्य है। इसीलिये संहिताओं को वैष्णवों का कल्पसूत्र कहा जाना ठीक ही है। शास्त्रीय विभाग को छोड़ दिया जाय तो संहिताओं में तत्त्वज्ञान, मंत्रशास्त्र, यंत्रशास्त्र, मायायोग, योग, मंदिर निर्माण, प्रतिष्ठाविधि, संस्कार (आह्निक) वर्णाश्रम और उत्सव इन दस विषयों का ही विस्तार है[2]।

पांचरात्र मत का प्रसिद्ध और विशिष्ट मत चतुर्व्यूह सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार वासुदेव से संकर्षण (जीव) संकर्षण से प्रद्युम्न (=मन) और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (=अहंकार) की उत्पत्ति होती है। शंकराचार्य ने इस सिद्धांत का खण्डन किया है। इस तथ्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि उस युग में यही मत पांचरात्रों में अधिक प्रचलित रहा होगा। सभी संहिताओं में यह सिद्धान्त नहीं पाया जाता। जिस काल की हम चर्चा कर रहे हैं उस काल में पांचरात्र संहिताएं निश्चय ही पूजा और अन्यान्य व्रतादि अनुष्ठानों में प्रयुक्त रही होंगी। दक्षिण में इस समय भी बहुत से मंदिरों में भागवत अर्चक हैं, और प्राचीनकाल में और भी अधिक रहे होंगे। तामिल देश के अधिकांश मंदिरों में पांचरात्र संहिताओं के अनुसार पूजा होती है, परन्तु अब भी ऐसे देवालय हैं जिनमें वैखानस संहिताएं व्यवहृत होती हैं। कहते हैं कि रामानुजाचार्य द्वारा विरोध के कारण बहुत से मंदिरों से वैखानस

---

[1]. देखिए श्रेडरकृत इंट्रोडक्शन टु दि पांचरात्र एण्ड आहिर्बुध्न्य-संहिता, पृष्ठ २२।

[2]. देखिए वही, पृष्ठ २६

कारण है। दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति और पारमैश्वर्य प्राप्ति—इन दो बातों पर इनका विश्वास था। कापालिक लोग वाममार्गी थे। संभवतः गृहस्थों में इनके सिद्धांतों का प्रचार नहीं था। भवभूति के 'मालती माधव' में चामुंडा पूजक और अघोर घंट नामक कापालिक का वर्णन है। ये लोग मानव-बलि भी दिया करते थे।

अनुश्रुति के अनुसार शैवागमों की संख्या अट्ठाईस है और उपागमों की एक सौ आठ। कुछ पंडित आगमों के बनने का स्थान उत्तर भारत (विशेषकर काश्मीर) बताते हैं। दक्षिण के शैव भक्तों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। जो तीन प्रसिद्ध शैव भक्त हो गए हैं, उनके नाम हैं—ज्ञान संबंधर, अप्पर, और सुन्दरमूर्ति। प्रथम दो भक्त विक्रम के सातवीं शती के उत्तरार्ध में हुए और अंतिम आठवीं-नवीं शती में। यद्यपि इनके भजनों में आगमों की बात आ जाती है तथापि मूलरूप से महाभारत और पुराणों से ही प्रभावित बताए जाते हैं। एक अत्यन्त प्रभावशाली कवि माणिक्कवाचकर हुए हैं (विक्रम की दसवीं शती) जो भाषा, भाव, तत्वज्ञान और काव्य मर्म के उत्तम जानकार थे। इनके विषय में जो कुछ बातें हम नानासूत्रों से जान सके हैं उनसे विदित होता है कि वे तामिल शैवों के तुलसीदास कहे जा सकते हैं। इनकी रचनाओं में आगमों का प्रचुर प्रभाव है।

इस काल में शैवों की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण शाखा काश्मीर में थी। इस शाखा की तत्व विद्या पर आगमोंका प्रभाव है। शाखा के दार्शनिक मत को प्रत्यभिज्ञा, त्रिक या स्पंद कहते हैं। शिव, शक्ति और अणु या पशु, पाश और पति—इन तीन तीन का प्रतिपादन होने से इस मत को त्रिक कहते हैं। अनुश्रुति है कि शिवजी ने अपने शैवागमों की द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धांत के प्रचारार्थ इस मत को प्रकट किया और दुर्वासा ऋषि को इसे प्रचार करने का आदेश दिया। इस मत के मूल प्रवर्तक आचार्य वसुगुप्त विक्रम की आठवीं शती में हुए होंगे। कहते हैं कि शिवसूत्र के सतहत्तर सूत्र महादेव गिरि की किसी शिला पर उत्कीर्ण थे। स्वप्न में शिवजी द्वारा आदेश पाकर वसुगुप्त ने उनका उद्धार किया था। इन्हीं सूत्रों के आधार पर उन्होंने अपनी 'स्पंद कारिका' की याचन

हंसपद, निरंजनपद और निरालंबन पद को एक ही परम पद का नामांतर बताया गया है[1]।

'सम्मोहन तंत्र' में बाईस भिन्न भिन्न आगमों का उल्लेख है, जिनमें चीनागम, पाशुपत, पांचरात्र, कापालिक, भैरव, अघोर, जैन और बौद्ध आगमों की भी चर्चा है। उस समय ये सभी मत प्रचलित रहे होंगे। बौद्ध तंत्र की तो अनेक बातें प्रकाशित हुई हैं, पर जैन मत के तंत्र अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' आदि ग्रंथों से अनुमान किया जा सकता है कि हमारे आलोच्यकाल में जैनमत में भी निश्चय ही तंत्रों का प्रचार रहा होगा।

इस काल की समाप्ति के आसपास ही परम शक्तिशाली 'भागवत पुराण' का अभ्युदय होता है। उत्तर कालीन धर्ममत और साहित्य को इस पुराण ने अधिक प्रभावित किया है। इस काल का दूसरा महत्वपूर्ण ग्रंथ 'श्री भाष्य' है। इन दोनों ग्रंथों का प्रभाव उत्तरकालीन वैष्णव सम्प्रदायों पर बहुत अधिक पड़ा है। आगे चलकर पांचरात्र संहिताओं, विष्णुपुराण और 'श्री भाष्य' का आश्रय लेकर एक वैध मार्गी वैष्णव साधना विकसित हुई और दूसरी रागानुग मार्गी या आवेश और उल्लासमय भक्ति मार्गी साधना 'भगवान' का आश्रय लेकर विकसित हुई। उत्तरकाल के वल्लभ और चैतन्य सम्प्रदाय 'भागवत' को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं। 'भागवत पुराण' श्रीकृष्ण के प्रेममूलक भक्ति धर्म का प्रतिपादक है इस पुराण के अनुसार श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं और अन्य अवतार अंशकला मात्र हैं। भगवान् के दो रूप हैं—निरवच्छिन्न चैतन्य निराकार रूप

---

[1]. एतस्याः परतः परात्परतरं निर्वाणशक्तेः पदम्।
शैवं शाश्वतमप्रमेयममलं नित्योदितं निष्क्रियम्।
तद्विष्णोः पदमित्युशन्ति सुधियः केचित्पदं ब्रह्मणः।
केचिद्धंसपदं निरंजनपदं केचिन्निरालम्बनम्॥
—कौलावलि निर्णय, पृष्ठ १४०।

८. कापालिक मत

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तांत्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिव ज्ञेय हैं। उपास्य हैं—उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) हैं—'शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।' और इसी भाव को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने सौंदर्य लहरी में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हों तभी कुछ करने में समर्थ हैं नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते—

> शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवतिशक्तः प्रभावितुं।
> न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥

तांत्रिक लोगों का मत है कि परम शिव के न रूप हैं न गुण और इसीलिए उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न है और केवल 'नेतिनेति' अर्थात् यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर शिव) केवल जाने जा सकते हैं, उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति है। इस शक्ति की उपासना के बहाने भवभूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है। शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनुमान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परम शिव को निष्क्रिय-निरंजन होने के कारण केवल ज्ञानमात्र का विषय (ज्ञेय) समझते हों।

वस्तुतः दसवीं शती के आसपास लिखी हुई एक-दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता

श्रेणी का नाम	क्रम सं०	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
चौर्य-जीवी	३८१	बागरिया	मध्य भारत	३०६००
	३८२	बेदिया	उत्तर भारत	५७५००
	३८३	भंसिया	पंजाब	३४७००
	३८४	हबूरा	उत्तर भारत	४३००
	३८५	भामतिया-उचली	उत्तर भारत	६१००
शिकारी आदि	३८६	भवरिया	उत्तर भारत	३०३००
	३८७	मोघिया		
	३८८	अहेरिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	३५४००
	३८९	बहेलिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	५३६००
	३९०	महतम	पंजाब, युक्तप्रान्त	८२९००
	३९१	महरिया	मध्य भारत	१३६४००
	३९२	बावरी	मध्य भारत	११४०००
	३९३	पारधी	दाक्षिणात्य	३२०००
	३९४	वेडन	तामिल	२५५००
	३९५	वलय्यन्	तामिल	३८३०००
	३९६	केद्वन	तामिल	७४९००
	३९७	कुरिच्चन	मालाबार	९६००
मध्य कटिबंध	३९८	कोल	मध्य प्रान्त	२९९०००
की पहाड़ी जातियाँ	३९९	हो	बङ्गाल	३८५१००
	४००	मुंडा	बंगाल, बिहार	४६६७००
	४०१	भूमिज	बंगाल	३७०२००
	४०२	भुइया	बंगाल मध्य०	७८९१००
	४०३	खरवार	बंगाल	१३९६००
	४०४	बैगा	मध्य प्रान्त	३३९००
	४०५	चेरो	बंगाल	३०२००
	४०६	खड़िया	बंगाल	१२०७००

८. कापालिक मत

ऐसा जान पड़ता है कि अन्यान्य तांत्रिकों की भाँति कापालिक लोग भी विश्वास करते थे कि परम शिव ज्ञेय है। उपास्य है—उनकी शक्ति और तद्युक्त अपर या सगुण शिव। इसी बात को लक्ष्य करके देवी भागवत में कहा गया है कि कुण्डलिनी अर्थात् शक्ति से रहित शिव भी शव के समान (अर्थात् निष्क्रिय) हैं—'*शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।*' और इसी भाव को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने सौंदर्य लहरी में कहा है कि शिव यदि शक्ति से युक्त हों तभी कुछ करने में समर्थ हैं नहीं तो वे हिल भी नहीं सकते—

> शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवतिशक्तः प्रभावितुं।
> न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

तांत्रिक लोगों का मत है कि परम शिव के न रूप हैं न गुण और इसीलिए उनका स्वरूप-लक्षण नहीं बताया जा सकता। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं वे उससे भिन्न हैं और केवल 'नेतिनेति' अर्थात् यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा ही कहा जा सकता है। निर्गुण शिव (पर शिव) केवल जाने जा सकते हैं, उपासना के विषय नहीं हैं। शिव केवल ज्ञेय हैं। उपास्य तो शक्ति है। इस शक्ति की उपासना के बहाने भवभूति ने कापालिकों के मुख से शक्ति के क्रीड़न और ताण्डव का बड़ा शक्तिशाली वर्णन किया है। शक्तियों से वेष्टित शक्तिनाथ की महिमा वर्णन करने के कारण यह अनुमान असंगत नहीं जान पड़ता कि कापालिक लोग भी परम शिव को निष्क्रिय-निरंजन होने के कारण केवल ज्ञानमात्र का विषय (ज्ञेय) समझते हों।

वस्तुतः दसवीं शती के आसपास लिखी हुई एक-दो और पुस्तकों में भी शैव कापालिकों का जो वर्णन मिलता है वह ऊपर की बातों को पुष्ट ही करता

श्रेणी का नाम	क्रम सं०	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जन संख्या
चौर्य-जीवी	३८१	बागरिया	मध्य भारत	३०६००
	३८२	बेदिया	उत्तर भारत	५७५००
	३८३	मंसिया	पंजाब	३४७००
	३८४	हबूरा	उत्तर भारत	४३००
	३८५	भामतिया-उचली	उत्तर भारत	६१००
शिकारी आदि	३८६	भवरिया	उत्तर भारत	३०३००
	३८७	मोधिया		
	३८८	अहेरिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	३५४००
	३८९	बहेलिया	पंजाब, युक्तप्रान्त	५३६००
	३९०	महतम	पंजाब, युक्तप्रान्त	८२९००
	३९१	महरिया	मध्य भारत	१३६४००
	३९२	बावरी	मध्य भारत	११४०००
	३९३	पारधी	दाक्षिणात्य	३२०००
	३९४	वेडन	तामिल	२५५००
	३९५	वलय्यन्	तामिल	३८३०००
	३९६	केड्वन	तामिल	७४९००
	३९७	कुरिच्चन	मालाबार	९६००
मध्य कटिबंध	३९८	कोल	मध्य प्रान्त	२९९०००
की पहाड़ी जातियाँ	३९९	हो	बङ्गाल	३८५१००
	४००	मुंडा	बंगाल, बिहार	४६६७००
	४०१	भूमिज	बंगाल	३७०२००
	४०२	भुंइया	बंगाल मध्य०	७८९१००
	४०३	खरवार	बंगाल	१३९६००
	४०४	बेगा	मध्य प्रान्त	३३९००
	४०५	चेरु	बंगाल	३०२००
	४०६	ग्वारिया	बंगाल	१२०७००

श्रेणी का नाम	क्रमसंख्या	जाति का नाम	उसका प्रदेश	जनसंख्या
	४५६	डाफला	आसाम	६५०
	४६०	आक	आसाम	२८
	४६१	खासी	आसाम	११६००
	४६२	सेइंटेंग	आसाम	४७६००
	४६३	मिकिर	आसाम	८७३००
	४६४	नागा (साधारण)	आसाम	७८६००
	४६५	अंगामी-तेंगिमा	आसाम	२७५००
	४६६	आओ	आसाम	२६८००
	४६७	सेमा-सिमा	आसाम	४३००
	४६८	ल्होटा	आसाम	१६३००
	४६६	रेंगमा	आसाम	५६००
	४७०	कूकी	आसाम	६७२००
	४७१	मेथेई	आसाम	६६४००
	४७२	लूसेई	आसाम	६३६००
	४७३	शान	आसाम	१८५०
	४७४	खामटी	आसाम	२०००
	४७५	फकियाल	आसाम	२२०
	४७६	नोरा	आसाम	१४०
	४७७	तुरंग	आसाम	४००
	४७८	अइतोन	आसाम	८०
	४७६	आहोम	आसाम	१७८०००
	४८०	सिगफो	आसाम	८००
	४८१	दाओनिया	आसाम	१०००
हिमालय की पहाड़ी	४८२	खंबू	नेपाल	४६५००
	४८३	याख	नेपाल	२४००
	४८४	लिंबू	नेपाल	२४६००